छात्रहितकारी पुस्तकमाला-संख्या १५

अनमोलरत्न

लेखक—

पं० रामबहोरी शुक्ल बी० ए० साहित्यरत्न

प्रकाशक—

छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज-प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } १९३१ { मू० १।)

अनमोल रत्न

प्रो० अयोध्यानाथ शर्मा, एम० ए०

सनातनधर्म कालिज

कानपुर

समर्पण
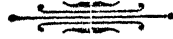
परमपूज्य पं० अयोध्यानाथ शर्मा एम० ए० को

सादर

समर्पित

रामबहोरी शुक्ल

विषय सूची

अनमोल रत्न

भगवान् बुद्धदेव ।

सा के पूर्व छठी शताब्दी में हिमालय की तराई में शाक्य वंश के क्षत्रियों का प्रसिद्ध राज्य था, 'कपिलवस्तु, इसकी राजधानी थी। इस राज्य के पूर्व में लिच्छिवि और मगध और पश्चिम में कोशल राज्य थे, उत्तर में रोहिणी नदी बहती थी। रोहिणी की दूसरी ओर कोलिय क्षत्रियों का राज्य था। उन दिनों शाक्यों के राजा शुद्धोदन थे। इनका विवाह कोलिय वंश में उत्पन्न महामाया और महाप्रजावती गौतमी नामक दो राजकुमारियों से हुआ। इन्हीं महामाया के गर्भ में बुद्ध ने श्वेत हाथी के रूप में प्रवेश किया। प्रसव काल के निकट आने पर महामाया पति की

आज्ञा से अपने मयके देवदाह जा रही थीं। रास्ते में प्रसव-वेदना हुई। वे 'लुम्बिनी' वन में 'शाल' वृक्ष के नीचे खड़ी हो गईं। थोड़ी देर में इनकी कोख से बुद्ध का जन्म हुआ। इस समय माया की आयु पैंतालीस वर्ष की थी। यह बात ईसा से पूर्व ६२३ वर्ष की है।

लुम्बिनी वन से महामाया अपने नव जात शिशु के साथ बड़ी धूम धाम से कपिलवस्तु लाई गईं। पांचवें दिन बच्चे का नाम सिद्धार्थ रक्खा गया। सातवें दिन महामाया की मृत्यु हो गई। महाप्रजावती ने बालक सिद्धार्थ को पाला-पोसा। ज़रा बड़ा होने पर कुमार विश्वामित्र के पास पढ़ने के लिए भेजे गए। अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता और भिन्न-भिन्न प्रकार के अक्षरों के ज्ञान से कुमार ने विश्वामित्र को चकित कर दिया। फिर आठ अन्य ब्राह्मणों और अन्त में दर्शन, व्याकरण, और वेदाङ्ग पारंगत 'सब्बमित्त' को शुद्धोदन ने कुमार को पढ़ाने के लिए नियुक्त किया। युद्धविद्या सिखाने की भी योजना की गई। धनुर्विद्या में कुमार ने अर्जुन की भांति दक्षता प्राप्त की। सोलह वर्ष की उम्र में इनका विवाह कोलियवंश की राजकुमारी यशोधरा से हुआ। सिद्धार्थ रातदिन महलों के भीतर रखे जाते। विवाह के दस साल बाद उनके पुत्र हुआ। उसका नाम राहुल रखा गया। राज्य में बहुत उत्सव मनाया गया। किन्तु सिद्धार्थ इस नये सांसारिक बन्धन के कारण गंभीर विचार में पड़ गए। उनके मन में वैराग्य लेने के विचार आने लगे। शुद्धोदन कुमार की दृष्टि ऐसी वस्तुएं पर न पड़ने देते थे जिन्हें देखकर उनकी वैराग्य-वृत्ति और दृढ़ हो जाय। दैवात् वह सारथी को लेकर महलों के बाहर सैर करने गए। वहाँ

एक गलित-शरीर बुड्ढे, फिर रोगी और तीसरी बार मुर्दे को देखा। इन दृश्यों से उनका मन संसार की असारता से हट गया। चौथी बार उन्हें एक भगवा वस्त्राधारी भिक्षु मिला। उसके संसार त्याग को देख कर कुमार के मन में भी सुख और ऐश्वर्य का जीवन छोड़ कर विरागी बनने की उत्कण्ठा हुई। इन्हीं घटनाओं के बाद राहुल का जन्म हुआ। उस रात सिद्धार्थ अपनी स्त्री के महल गए। यशोधरा सो रही थी। उसका हाथ अपने नन्हें से बच्चे के सिर पर रखा था। चारों ओर सुगंधित फूल बिछे थे। सिद्धार्थ के मन में आया कि एक बार सुन्दर बालक का मुँह चूम लें। लेकिन ऐसा करने से यशोधरा जग पड़ेगी—इस डर से वह दबे पाँव दिल कड़ा कर के वहाँ से लौट पड़े। आधी रात का समय था। सारे राज-महल में सन्नाटा छाया था। आकाश में आषाढ़ी पूर्णिमा का चन्द्रमा चमक रहा था। अपने सारथी छंदक को आज्ञा दी कि 'कंठक' को कस लाओ। सोती हुई पत्नी, बच्चे और सारे राजपरिवार को निर्मोही बन कर छोड़ने का निश्चय कर लिया। कंठक पर सवार हो कोलिय देश में अनामा नदी के किनारे जा पहुँचे। घोड़े से उतर पड़े। तलवार से अपने बाल काट डाले। राजसी वस्त्र उतार कर भगवा कपड़े पहन लिए। छंदक को घोड़ा समेत जबरदस्ती राजधानी लौटा दिया। राज-परिवार में प्रातःकाल इस समाचार ने हाहाकार मचा दिया। इधर सिद्धार्थ सात दिन तक 'अनूपीय' के आम्रवन में आराम करके राजगृह की ओर बढ़े। उन्हें आशा थी कि यहाँ गंगातट पर अच्छे विद्वानों से भेंट होगी। राजगृह के स्वामी बिम्बसार की नज़र उन पर पड़ गई। उनके सौन्दर्य पर मुग्ध हो मगध

नरेश ने उन्हें अपना सारा राजपाट दे डालना चाहा। पर यह वैरागी सांसारिक राज्य के लिए नहीं पारलौकिक साम्राज्य प्राप्त करने के लिए घर से निकला था।

सुख और वैभव में पले राजकुमार के लिए फकीरी ज़िन्दगी आसान न थी। जब उन्होंने भीख मांग कर पहले दिन खाना खाया तो ऐसा जान पड़ने लगा कि उनके पेट का भीतरी हिस्सा बाहर निकलना चाहता है। धीरे धीरे उन्होंने इस प्रकार की चीज़ें खाने का अभ्यास कर लिया। राजगृह में सिद्धार्थ पहले पहल 'आडार कालाम' नामक उस समय के प्रसिद्ध पण्डित के पास पहुँचे। उसने इन्हें संसार की असारता का ज्ञान दिया। पर इन्हें इस पर संतोष न हुआ। वह 'उद्दक' (रुद्रक) नामक विख्यात दार्शनिक के पास पहुँचे। कुछ दिन तक उसके पास रहे। पर उन्हें निर्वाण का रास्ता दिखाई न पड़ा। यहाँ उन्हें पाँच ऐसे भिक्षु मिले जो सत्य की खोज में लगे थे पर पा नहीं रहे थे। इन्हें साथ लेकर सिद्धार्थ गया की ओर गए। उन्होंने सोचा कि बिना शरीरिक शुद्धता के चित्त पवित्र नहीं होता। इसलिए उन्होंने तपस्या करना प्रारंभ किया। छः वर्ष तक वे आत्मशुद्धि में लगे रहे। उनका ख्याल था कि बिना शरीर और इच्छाओं की दासता छोड़े निर्वाण नहीं मिल सकता। अतः उन्होंने कठोर साधना करनी आरंभ की। प्राणायाम करने पर थोड़ा सा भोजन करके रहने लगे। उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया। आँखें घुस गईं, खाल लटकने लगी। वे कहते हैं "जब मैं अपना पेट छूता तो हाथ रीढ़ के पास पहुँच जाता, और जब मैं रीढ़ को स्पर्श करता तो हाथ पेट की खाल से जा लगता। शौच जाते समय

मैं कमजोरी से लड़खड़ा गया । मूर्च्छा जगाने के लिए ज्योंही मैंने अपना शरीर छुआ मेरे रोंगटे खड़े हो गए, बाल उखड़ आए । और यह सब खाना न खाने की वजह से हुआ।" इसके अलावा एकान्त निवास स्वयं एक घोर तपस्या थी। इन कठिन उपवासों का नतीजा यह हुआ कि गौतम का शरीर बहुत कमज़ोर हो गया। इतने पर भी उन्हें आत्मिक ज्ञान न हुआ। वह सोचने लगे कि निर्वाण का मार्ग यह नहीं है। उन्होंने भूखों मरना छोड़ दिया । भिक्षा माँग कर खाना आरंभ कर दिया। बैसाख की पूर्णिमा को एक पेड़ के नीचे पहुँचे। उस दिन राज कन्या सुजाता उस पेड़ की पूजा करने आया करती थी। अपनी सखी 'पुण्णा' के साथ वह खीर लेकर आई और गौतम को वृक्ष देव समझ कर उसे दे गई। खीर लेकर गौतम निरंजरा नदी के किनारे पहुँचे। स्नान करके खीर के उनचास हिस्से किए। उन्हें खाकर आगामी सात हफ्ते कुछ न खाने का प्रण किया। दोपहर में वहीं नदी तट पर आराम करके वह सन्ध्या समय बुद्ध गया की ओर गए। रास्ते में स्वस्तिक नामक घसियारा मिला। उसने उन्हें आसन के लिए कुछ घास दी। उस घास पर पद्मासन लगा पूर्व की ओर मुंह करके पीपल के वृक्ष के नीचे यह प्रतिज्ञा करके बैठ गए कि "चाहे मेरी खाल, नसें और हड्डियाँ नष्ट हो जायँ; मेरा तमाम रक्त और मांस भले ही सूख जाय; किन्तु जब तक मैं महान् और पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर लूंगा इस स्थान से न उठूंगा।" इस प्रकार बिना खाए, नहाए, मुँह धोये अथवा शौच के लिए उठे वह ध्यानावस्थित हो गए। यह ध्यान एक सौ बज्रों के साथ गिरने पर भी भंग नहीं हो सकता था। उनकी इस घोर तपस्या को देख

कर 'मार' घबड़ा उठा। उसने सोचा कि यदि इन्हें बुद्धत्व प्राप्त हो गया तो फिर मेरा राज्य कहां रहेगा। इसलिए उसने अनेक प्रलोभन दिए। पर कुछ असर न हुआ। 'मार' हार कर चला गया। पहले ही दिन गौतम को, पैंतीस वर्ष की आयु में 'बुद्धत्व' प्राप्त हो गया। जिस वृक्ष के नीचे उन्हें यह पद मिला वह 'बोधित्व' के नाम से विख्यात है। बुद्धत्व प्राप्त हो जाने पर भी सिद्धार्थ सात दिन तक आसन से न उठे। फिर तीन सप्ताह बोधिवृक्ष के समीप बिताए। पाँचवें सप्ताह वह अजा-पालों के बरगद के पेड़ की ओर गए। छठे सप्ताह 'मछलिक' वृक्ष और सातवें हफ़्ते 'राजायतन' वृक्ष की ओर पहुँचे। वहाँ सातवें सप्ताह के आखिरी दिन 'तपस्स' और 'मल्लिक' नामक दो व्यापारियों ने उन्हें जौ की रोटी और शहद खाने को दी। जब बुद्ध खाना खा चुके तो वे दोनों उनके चरणों पर लोट गए और उनके शिष्य बनने की प्रार्थना करने लगे। यही बुद्ध के पहले गृहस्थ शिष्य हुए।

अब बुद्ध ने अपने धर्म का संसार में प्रचार करने का निश्चय किया। उन्हें अपने उन पाँच साथियों का स्मरण आया जिन्होंने उनको तपस्या करते समय छोड़ दिया था। इनको विश्वास दिलाने के लिए पहले इन्हीं को उपदेश देने का निश्चय किया। वे इन दिनों इसिपट्टन, बनारस में थे। बुद्ध वहाँ गए। संध्या समय इन अविश्वासियों के यहां 'मृगदख' नामक बाग में पहुँचे। उन्होंने शिष्टता पूर्वक अपने पूर्व परिचित का स्वागत किया और ध्यान से उनका उपदेश सुना। यह घटना 'धर्मचक्र प्रवर्तन' के नाम से बुद्ध साहित्य में विख्यात है। इस प्रकार बुद्ध ने सारनाथ में अपने धर्म का पहिया चलाया। इस उपदेश

का उद्देश्य सांसारिक सुखोपभोग और शारीरिक तपस्याओं को असार सिद्ध करना था। इनके चक्कर में न फँसकर उन्होंने उपदेश दिया, इन आठ बातों के करने से निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है : यथार्थ उद्देश्य, यथार्थ भाषण, यथार्थ कार्य, यथार्थ जीवन, यथार्थ उद्योग, यथार्थ मनः स्थिति और यथार्थ ध्यान। इसको 'अष्टांगिक मार्ग कहते हैं।

इस उपदेश का इन पांच भिक्षुओं के प्रमुख 'कोण्डञ्ञ' (कोण्डिय) पर तत्काल प्रभाव हुआ। फिर वाष्प, भद्रिक, महानामन्, और अश्वजित नामक शेष चारनेभी बौद्ध धर्म अंगीकार किया ये पहिले पांच भिक्षु शिष्य हैं जिन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। इसके बाद गृहस्थों ने भी भगवान् के बताये हुए मार्ग पर चलना आरंभ किया। काशी के एक प्रसिद्ध सेठ का पुत्र 'यश' उनका शिष्य हुआ। उसके माँ-बाप और पत्नी ने भी भगवान् से दीक्षा ली। फिर यौवन अन्य धनी युवकों ने बुद्ध की शरण ली।

इस प्रकार काशी आने के तीन महीने के भीतर, बरसात के अन्त में बुद्ध के साठ शिष्य हो गए। उन्हें एकत्रिक करके वे बोले, "हे शिष्यो, तुम लोग जाओ और स्थान-स्थान पर घूम कर संसार की भलाई और प्रसन्नता के काम करो। एक जगह दो मत जाओ। धर्म के शब्दों और भावों का पूर्ण रूप से प्रचार करो।"

वह स्वयं 'उरुवेला' गांव गए। वहाँ ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। थोड़े दिनों वहाँ के सब ब्राह्मणों ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। इसके बाद वे राजगृह के समीप 'यष्टिबन' गए। यहाँ मगध का राजा बिम्बिसार बहुत ब्राह्मणों और नागरिकों को लेकर उनसे

मिला। बुद्ध ने उन सब को अपने धर्म का उपदेश दिया। बिम्बिसार अपने असंख्य साथियों के साथ बौद्ध धर्म का अनुगामी हो गया। भगवान् के वहाँ से जाने के पहले उसने उन्हें भोजन के लिए निमंत्रित किया और नगर के निकट स्थित 'वेणुवन' संघ की भेंट किया। यहीं उन्होंने 'सारिपुत्र' और 'मौग्गलान' नामक दो परिव्राजकों को अपना शिष्य बनाया।

इन दिनों बुद्ध की कीर्ति कपिलवस्तु तक पहुँच गई थी। शुद्धोदन ने कई बार उन्हें बुलाने के लिए दूत भेजे। जितने दूत आते सब उनसे दीक्षा लेकर वहीं रह जाते। इस प्रकार नौ दूत बौद्ध हो गए और लौटकर राजा को खबर न दी। तदनन्तर उनका पुराना बाल सखा उदायिन आया। वह भी आर्हत हो गया। परन्तु उसने भगवान् से उनके पिता का संदेश कह दिया। उन्होंने यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया और संघ के साथ कपिलवस्तु को प्रस्थान किया। दो महीने बाद वहाँ पहुँचे नगर के बाहर वे 'न्यग्रोध' नामक बरगद के वन में ठहरे। शुद्धोदन और राज परिवार के अन्य लोग मिलने आए। पर उन्होंने उनके भोजन आदि का प्रबन्ध करके बड़ी भूल की। दूसरे दिन बुद्ध अपने शिष्यों को साथ ले भीख मांगने निकले। इस पर राजा लज्जित हुआ और कहा कि यह राजकुल की मर्यादा के विरुद्ध है। बुद्ध ने कहा कि यह काम आप ऐसे राजाओं के लिए लज्जास्पद हो सकता है। हम बुद्धों का तो भिक्षा पर ही निर्वाह होता है। इसके बाद राजमहल में सब भिक्षुओं और बुद्ध को भोजन कराया गया। वहीं इन्होंने सबको उपदेश दिया। इस समय उनकी स्त्री उनके पास न आई। वह स्वयं उसके पास गये। उनका संन्यासी भेष देखकर वह चक-

पका कर विह्वल हो उठी। फिर उनके पैरों पर गिर कर रोने लगी। उसे उन्होंने बहुत से उपदेश दिए। दूसरे दिन उनके चचेरे भाई नन्द को युवराज बनना था और साथ ही विख्यात सुन्दरी 'जनपद-कल्याणी' से उसका विवाह होना था। बुद्ध नन्द को बन की ओर ले गए। उनके उपदेश सुनकर उसने भिक्षु होना स्वीकार कर लिया। फिर राहुल ने भी प्रवज्या ग्रहण की। इस प्रकार उत्तराधिकारी न रहने से शुद्धोदन बहुत व्याकुल हुआ। इस पर बुद्ध ने नियम बना दिया कि मां-बाप की आज्ञा के बिना कोई बालक संघ में न लिया जाय।

कपिलवस्तु से बुद्ध 'अनामा' तट पर 'अनुपीय' गए। वहाँ उन्होंने अपने प्रसिद्ध शिष्य आनन्द, अपने विरोधी चचेरे भाई देवदत्त, उपाली नाई और अनुरुद्ध को दीक्षा दी। फिर अपनी मौसी महाप्रजावती बिम्बसार की पत्नी क्षेमा तथा अपनी स्त्री यशोधरा को उन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। इस प्रकार उनका यश चारों ओर फैलने लगा। देवदत्त इस बात को न सह सका। वह इनसे उम्र में ज्यादा था। उनसे कहा कि उसके सामने बुद्ध का संघ-नेता होना अनुचित है। उसने तीन बार बुद्ध से कहा कि मुझे संघ का प्रधान बना दो। ऐसा न करने पर वह बुद्ध का खुल्लम खुल्ला शत्रु हो गया। उसने बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु को भड़काया। उससे कहा कि तुम अपने विधर्मी पिता (बिम्बिसार) को गद्दी से उतार दो। अजातशत्रु पिता से राज्य लेकर ही सन्तुष्ट न हुआ। कहते हैं उसने बिम्बिसार को भूखों मार डाला। देवदत्त ने बुद्ध के मार डालने की तीन बार कोशिशें की। पर वह सफल न हुआ। अन्त में अजातशत्रु को पिता की हत्या करने पर बहुत

पश्चात्ताप हुआ। उसे बुद्ध की शिक्षा से शांति मिली। इन्हीं दिनों देवदत्त एक तालाब में फँसकर मर गया।

इसके बाद बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द के साथ बहुत से स्थानों की यात्रा की और मल्ल, लिच्छिवि, शाक्य आदि क्षत्रियों को अपने धर्म की दीक्षा दी। इन्हीं दिनों इन्हें समाचार मिला कि अवध के राजा विदूदभ ने कई कारणों से नाराज़ होकर शाक्यों की कपिलवस्तु का तहस-नहस कर डाला। बुद्ध ने अपनी पितृभूमि का सर्वनाश अपनी आँखों देखा। फिर 'पाटलि' गाँव होते हुए वैशाली पहुँचे। उन्होंने भविष्यवाणी की कि यह 'पाटलि' आगे चलकर भारत का सर्वश्रेष्ठ नगर होगा। यही मौर्यकाल में प्रसिद्ध पाटलिपुत्र हुआ। वैशाली में 'अम्बपाली' नामक वेश्या ने बुद्ध को संघ-समेत अपने यहाँ भोजन के लिए बुलाया। लिच्छिवि सरदारों ने उसे ऐसा करने से बहुतेरा रोका पर अपने निश्चय में दृढ़ रही।

यहाँ से वे पास के 'बेलुव' नामक गाँव गए। वहाँ उन्हें कठिन बीमारी ने आ घेरा। उन्होंने भविष्यवाणी की कि "तीन महीने के अन्त में तथागत की मृत्यु हो जायगी।" यहाँ से वैशाली लौटे और 'पावा' के चुंद नामक लोहार के यहाँ गए। चुन्द ने उन्हें भात और 'कुकरमुत्ता' (सुअर का मांस नहीं, जैसा प्रायः कहा जाता है) खाने को दिया। इससे उनके पेचिश पैदा हो गई। कुशि नगर पहुँचने के पहले ही वह बहुत कमज़ोर हो गए। वहां पहुँच कर दो शाल के पेड़ों के नीचे एक चारपाई पर वे लिटाए गए। उनका सिरहाना उत्तर की ओर रखा गया। वे दाहिने करवट लेटे। मरने के पहले उन्होंने सुभद्र नामक ब्राह्मण को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। इस प्रकार

प्रायः दो वर्ष बीते। अन्तिम घड़ियां आईं। बुद्ध ने भिक्षुओं को बुलाकर पूछा कि किसी को उनके उपदेशों के विषय में कोई सन्देह तो नहीं है। भिक्षु चुप रहे। फिर उन्होंने अन्तिम उपदेश दिए। उनके अन्तिम शब्द यह थे, "भिक्षुओ, अब मुझे तुमसे इससे अधिक नहीं कहना है कि हर मिलावटी वस्तु का विनाश आवश्यंभावी है। तुम उत्साह पूर्वक अपने निर्वाण का प्रयत्न करो। मरने के पहले उन्होंने 'लुम्बिनी', 'बुद्ध गया', 'सारनाथ' और 'कुशीनगर' को बौद्धों के तीर्थस्थान बतलाए। पहले स्थान में उनका जन्म हुआ था, दूसरे में उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था, तीसरे में उनका पहला उपदेश हुआ था और अन्तिम स्थान में उनकी ऐहिक लीला समाप्त हुई थी। यह घटना ईसा के पूर्व ५४४ या ५४३ वर्ष की है। इस समय बुद्ध की उम्र अस्सी वर्ष की थी।

बुद्ध के शव का संस्कार राजाओं की भाँति धूम धाम से किया गया। उनकी अस्थियों के लिए मगध के अजात शत्रु वैशाली के लिच्छिवि, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुलि, राम ग्राम के कोलि और पावा के मल्ल लोग झगड़ने लगे। 'द्रोण' नामक ब्राह्मण ने व्यर्थ का झगड़ा बढ़ते देख इन सब को संबोधित कर कहा कि इन आठों जातियों को अस्थियों का एक-एक हिस्सा मिलेगा। हरेक को इनके ऊपर स्तूप बनवाना और आठों दिशाओं में भगवान का यशः सौरभ फैलाना होगा। यह निर्णय सब ने स्वीकार किया। इस प्रकार राजगृह, वैशाली कपिलवस्तु, अल्लकप्प, राम ग्राम, वेथदीन, पावा और कुशी नगर में भगवान् के स्मारक स्तूप बनवाए गए।

इस प्रकार जिस महापुरुष का जीवन सांसारिक दुःखों से

मुक्त होने के उपाय ढूंढने और उनका पता लगा कर उन्हें सारे देश में प्रचारित करने में बीता, जिनका सारा जीवन लोक-कल्याण का मार्ग दिखाने और विश्व में भ्रातृ भाव-स्थापित करने में लगा और जिनके जीवन का अधिकांश संसार की सेवा में व्यतीत हुआ उन्होंने अपना पार्थिव शरीर छोड़ कर संसार की असारता सिद्ध कर दी। उनका नश्वर शरीर तो मिट गया पर उनका यशः शरीर बुढ़ापे और मृत्यु से रहित है। उनका यश कभी नष्ट न होगा—यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है। हम भी श्रद्धालु बौद्ध के स्वर में मिला कर यह कहते हैं कि—

संघं शरणं गच्छामि
धर्मं शरणं गच्छामि
बुद्धं शरणं गच्छामि

प्रियदर्शी अशोक

द्रगुप्त मौर्य का राज्य आधुनिक अफगानिस्तान, काश्मीर, नैपाल और प्रायः समस्त उत्तर भारत में था। इस वृहत् साम्राज्य का चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार अधिकारी हुआ। यह २७३ ई० पूर्व में स्वर्गवासी हुआ। अशोकवर्धन अपने पिता के राज्य का स्वामी बना। हाल ई० पू० २६७ में उसका राज्याभिषेक हुआ। गद्दी पर बैठने और राज्याभिषेक होने में इन ४ वर्षों के अन्तर होने के कारण कुछ लोग कहते हैं कि पिता के राज्य का पूर्णाधिकार प्राप्त करने में अशोक को अपने बहुत से भाइयों और सम्बन्धियों की हत्या करनी पड़ी थी। किन्तु यह कथन निराधार हैं। बिन्दुसार के जीवनकाल में ही अशोक तक्षशिला और उज्जैन का 'वायसराय' रह चुका था। हिन्दूकुश से मैसूर तक फैला हुआ साम्राज्य पर जाने के बाद अशोक की इच्छा उसे और बढ़ाने की हुई। उसने महानदी से मद्रास के समीपवर्ती पुलीकट तक का बंगाल सागर के तट का प्रदेश जीत लिया। यह देश कलिंग कहलाता था। कलिंग विजय ही अशोक का पहला और अन्तिम स्मरणीय युद्ध और राज्यविस्तार का उद्योग था। इस संग्राम ने उसके जीवन पर अमिट प्रभाव डाला। उसे युद्ध में होने वाली अपार नर-हत्या ने बुद्ध के अहिंसाधर्म की ओर फेर दिया। इस युद्ध का अशोक पर

क्या प्रभाव पड़ा—यह उसके १३वें शिलालेख से ज्ञात होता है। 'पवित्र एवं सम्पूर्ण सम्राट् के राज्याधिरोहण के आठवें वर्ष (ई० पू० २६१) कलिंग जीता गया। इसमें १५०,००० मनुष्य बन्दी हुए १,००,००० मारे गए और इसके कई गुना मरे। कलिंग को अपने राज्य में मिला लेने के बाद ही सम्राट ने 'पवित्र धर्म' की रक्षा करना आरम्भ किया, उसके हृदय में उस धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। इस प्रकार पवित्र सम्राट् को कलिंग-विजय पर पश्चात्ताप होने लगा। क्योंकि अविजित देश के जीतने में मनुष्यों की हत्या, मौत और क़ैद हुआ करती है। इस पर सम्राट् को अत्यन्त दुःख और शोक होता है।'

एक ही लड़ाई में हज़ारों मनुष्यों का ख़ून होते देखकर अशोक का हृदय पिघल गया। उसे युद्ध एवं साम्राज्यवाद से विरक्ति पैदा हो गई। उसकी समझ में आ गया कि पृथ्वी का राज्य स्थायी नहीं होता। युद्ध की विजय सच्ची विजय नहीं होती। एक दूसरे शिला लेख का अन्त इन शब्दों से होता है 'सम्राट् समस्त जीवधारियों के लिए निश्चिन्तता, मनोविकारों पर अधिकार, शान्ति और आनन्द चाहता है। उसकी समझ में यही दया-धर्म की जीत सर्वप्रधान विजय है'। अस्तु, कलिंग युद्ध के थोड़े दिन पश्चात् २६१ ई० पू० में अशोक ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।

अशोक के धर्म परिवर्तन के बिषय में बहुत सी कहानियाँ प्रचलित हैं। सिंहल में यह जनश्रुति है कि गद्दी पर बैठने के पूर्व अशोक ने अपने बड़े भाई को मार डाला था। उसके मारे जाने के बाद एक लड़का हुआ। पैदा होते समय इसके

शरीर पर पवित्रता के सब चिन्ह थे। सात वर्ष की उम्र में भिक्षु हो गया। एक दिन राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। बुला भेजा। कहा जो स्थान उचित समझते हो उस पर बिराजो। कोई धर्माध्यक्ष वहाँ मौजूद न था। इसलिए वह बालक सिंहासन की ओर बढ़ा। राजा ने सहारा देकर सिंहासन पर बैठा दिया। भोजन करवाया। तदन्तर बुद्ध के सिद्धान्तों के विषय में प्रश्न पूछे। बालभिक्षु ने एक सिद्धान्त इन शब्दों में समझाया 'धर्म-जिज्ञासा अमरत्व का मार्ग है और उदासीनता मृत्यु का।' इन उपदेशों का बड़ा असर हुआ। राजा ने बौद्धधर्म अंगीकार कर लिया। दूसरी कथा यों है; एक दिन अशोक ने अपने ५०० मंत्रियों को क्रोध में आकर अपने हाथों मार डाला। उन्होंने उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्मति देने का साहस किया था। दूसरे दिन राज प्रासाद की ५०० स्त्रियों के जीते जी जलवा दिया उन्होंने राजकीय उद्यान के अशोक वृक्षों की पत्तियाँ तोड़ कर उसकी हँसी उड़ाई थी। उसके मंत्रियों ने प्रार्थना की कि हत्या के रक्त से अपने हाथ न रंगे। इसके लिए जल्लाद नियुक्त करदें। उसने मान लिया। चंदगिरिक जल्लादों का सरदार बनाया गया। निर्दयता में उसका सानी दूसरा न था। राजा ने एक बन्दीगृह बनाया। बाहर से वह बहुत सुन्दर बना था जो उसके भीतर एक बार भी पहुँच जाते उन्हें नरक की सब यातनाएं भोगनी पड़तीं। राजा की आज्ञा थी कि जो उसमें जावे जिन्दा न लौट पावे। एक दिन बाल पण्डित बौद्ध भिक्षु उस कारा के द्वार जा पहुँचा। जेलर ने उसे पकड़वा लिया वह सात दिन के बाद खौलते हुए कड़ाह में डाल दिया गया। क्रूर जेलर को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह महापुरुष

कमल पर बैठा मुस्करा रहा था। राजा ने भी यह दृश्य देखा। महात्मा ने उसे उपदेश दिए। उसने सत्य धर्म स्वीकार कर लिया। निर्दयता का मार्ग छूट गया।

मालुम नहीं इन कहानियों में कहाँ तक सच्चाई है। जो हो, यह निश्चित है कि कलिंग के संग्राम ने अशोक की जीवन-गति बदल दी। रोम का प्रसिद्ध क्रूर बादशाह नीरो नर हत्या के नए मनोरंजक उपाय रोज़ सोचा करता था। सारे शहर में आग लगवा कर वह हँसता-हँसता तमाशा देखा करता था। किन्तु अशोक अपने जीवन के पहले युद्ध में व्यर्थ हज़ारों जानें जाती देख भगवान् बुद्ध के अहिंसा धर्म की शरण गया। वहीं उसे शांति मिली। राज्याधिरोहण के ग्यारहवें वर्ष वह बौद्ध भिक्षु हो गया। इस नवीन धर्म का जोश उसकी नस-नस में था। वह कहता है, "मेरे सम्पूर्ण प्रयत्नों का उद्देश्य यह है कि मैं जीवित प्राणियों के प्रति अपना ऋण चुकाना चाहता हूँ, जिससे उनमें से कुछ यहाँ आनन्दपूर्वक रहें और फिर स्वर्ग प्राप्त कर सकें।"

यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि बुद्ध अशोक से तीन सौ वर्ष पहले हो गए हैं, किन्तु उनकी शिक्षा दूर तक नहीं फैली थी। यह केवल उत्तरी भारत तक सीमित थी। इस भिक्षु सम्राट् ने ही इसे राजधर्म बनाया। इसी ने इसे लोक-व्यापी किया।

इस धर्म के नियम पालन करने की आज्ञा उसने अपने राज भर में प्रचारित कर दी। उसने आदेश दिया कि हर मनुष्य को चाहिए कि आत्म-वशीकरण, विचारों की पवित्रता कृतज्ञता और विश्वस्तता के सद्गुण प्राप्त करे। उसे क्रोध, निर्दयता,

ईर्ष्या के जैसे दुर्गुणों से बचना चाहिए। सतत आत्म-परीक्षा का अभ्यास करना और सच बोलना चाहिए। प्राणिमात्र के जीवन की पवित्रता का ध्यान रखना और जीवित जीवधारियों के प्रति दया पूर्ण व्यवहार करना अनिवार्य कर्त्तव्य है। माता-पिता का आज्ञा-पालन धर्म का मुख्य अंग है। वयोवृद्धि के प्रति नवयुवक को और गुरु के प्रति शिष्य को आदर दिखाना चाहिए। सम्बन्धियों, भिक्षुओं और ब्राह्मणों से शिष्टता तथा नौकरों से दया का व्यवहार होना चाहिए। उदारता और अतिथि-सत्कार सब का धर्म है। सब धर्म और जातियाँ वास्तव में एक हैं; सब का उद्देश्य विचारों की शुद्धता और आत्मा पर अधिकार करना होता है। इसलिए इस 'दयाधर्म' के अनुयायी को चाहिए कि अपने पड़ोसी के धर्म के विरुद्ध कुछ न कहे। इन आचार-नियमों के पालन करने के लिए प्रजा बाध्य थी। लोग इन पर अमल करते हैं या नहीं—यह देखने के लिए अशोक ने बहुत से अफ़सर तैनात कर दिये थे। इन अफ़सरों का काम यह भी था कि ग़रीबों और बुड्ढों के हित के काम करें और जनता में शांति और सुख की वृद्धि करें। इस प्रकार का अफ़सर होने के लिए यह आवश्यक था कि उसमें ईर्ष्या-द्वेष, निर्दयता और जल्दबाजी न हो।

इस प्रकार का धर्मराज्य स्थापित करने में आदर्श बातें करने की आज्ञा देकर ही सन्तोष नहीं किया। वह अपने व्यवहारिक जीवन में इनका प्रयोग करता था। उसके राज्य में न्याय बहुत शीघ्र होता था। सब प्रकार के दुःखी लोग आसानी से उस तक पहुँच कर न्याय की प्रार्थना कर सकते थे। उसने घोषित कर दिया था कि लोग अपनी दुःख कहानी हर समय,

और जहां चाहें वहां सुना सकते हैं। जान पड़ता है कि अशोक को इस व्यवहारिक सदाचार के प्रचार में आशातीत सफलता मिल चुकी थी। क्योंकि वह यह कहने में समर्थ होसका कि 'जितने अच्छे काम मैंने किए हैं, उन सबका अनुकरण और पालन लोगों ने किया। इससे प्रकट होता है कि आजकल वृद्धि हो रही है। मेरे प्रचारित सद्गुणों की निःसन्देह शीघ्र और भी उन्नति होगी।' अशोक ने अपने राज्य में छाया और फल देने वाले पेड़ लगवाए, कुएँ खुदवाए, सड़कों के किनारे विश्राम-गृह, बनवास और बहुत से पौसले चलवाए। वह औषधि में काम आने वाली जड़ी-बूटियाँ पैदा कराकर उन्हें अपने तथा अन्य पड़ोसी राज्यों में बँटवाया करता था। इनसे उसका प्रियदर्शी नाम सार्थक होता है।

अशोक के खुद्वाए हुए बहुत से शिलालेख मिलते हैं। उनसे सम्राट् के चरित्र की बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। जीव-मात्र की पवित्रता के विषय में उसके विचार और व्यवहार किस प्रकार उन्नत होते गए यह बहुत से लेखों में मिलता है। उसके शासन के पहले आठ वर्षों तक उसे इस विषय में ध्यान तक न था। राजकीय भोजनालय के लिए बहुत से जानवरों की नित्य बलि हुआ करती थी। आठवें से तेरहवें वर्ष तक मारे गए जीवों की संख्या लगातार घटती गई। इसके बाद कोई जीव-धारी नहीं मारा गया। इसी साल अशोक ने 'धर्म' का प्रचार करना आरम्भ किया और धार्मिक सम्मेलन स्थापित किए। इसके पूर्व तक सम्राट् शिकार खेलना बहुत पसन्द करता था। अब शिकार की जगह तीर्थयात्रा, दान, उपदेश और धार्मिक-वाद-विवाद ने ले ली। इतना, होने पर भी अशोक ने दृढ़

शासक होने के कारण फांसी का दण्ड बन्द नहीं किया। अपने शासन के सत्ताईसवें वर्ष उसने यह हुक्म जारी किया कि फाँसी की सज़ा पाए हुए हरएक अपराधी को ३ दिन का अवकाश मिलेगा। इस बीच उसे मृत्यु से मिलने की तैयारी कर लेनी चाहिए।

भगवान् बुद्ध के धर्म से अशोक ने आत्मशांति पाकर भी सन्तोष न किया। उसने सोचा कि जैसे उसे शांति मिली है वैसे ही अन्य लोगों को भी मिलनी चाहिए। इसलिए उसने दूर-दूर देशों में धर्म प्रचारक भेजे। अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को उसने लंका भेजा। कुछ लोग महेन्द्र को उसका भाई कहते हैं। इन दोनों ने बौद्ध धर्म की नींव लंका में डाली।

राज्याधिरोहण के अठारहवें वर्ष अशोक ने बौद्ध भिक्षुकों की एक महती सभा की। इस बीच बुद्ध के उपदेशों के विषय में भ्रान्ति-सी पैदा होगई थी। इस सभा ने धर्मग्रंथों को एकत्रित करके उनमें से असली बातें ढूंढ निकाली। नौ महीने तक यह सभा अपना महत्वपूर्ण काम करती रही।

अब तक हमने अशोक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखने वाली बातें लिखी हैं। अब आइए देखें कि उसने कौन से ऐसे काम किए हैं जिनके कारण हम उसे इतने समय के पश्चात् भी याद करते हैं। सब से पहले अशोक के शिलालेख और स्तूप लीजिए। यह 'पाली' भाषा में लिखे हैं। सम्राट् की अभिलाषा थी कि इन्हें अधिक से अधिक लोग पढ़ें। इससे वे प्रायः सभी प्रसिद्ध स्थानों पर स्थापित किए गए थे। बहुत दिन तक रह सकें इसलिए पत्थर पर खुदवाए गए। इस प्रकार के १३ शिलालेख शाहबाजगढ़ी (पेशावर के निकट), काल्सी (देहरा-

दून के समीप), सोपारा (जिला थाना), गिरनार, धौली ('पुरी' उड़ीसा), जौगढ़ (गंजाम जिला), चितलदुर्ग (मैसूर राज्य), सह-साम (बिहार) इत्यादि १३ स्थानों में खोज में मिले हैं। जिन स्थानों पर चट्टानें नहीं उपलब्ध थीं, वहां कला की सहायता से ऊंचे ऊंचे खंभों पर अशोक ने अपने धार्मिक आदेश अंकित करवाए। ऐसे स्तूप तोपरा (अम्बाला) मेरठ, कौशाम्बी (प्रयाग) साँची (भूपाल) सारनाथ, रुमिण्डी (नैपाल) आदि १० जगहों में पाए गए हैं। इन स्तूपों में से एक लंका में पाया गया है। उसकी ऊंचाई ४०० फीट है और एक और अफ़-ग़ानिस्तान में ३०० फीट ऊंचा मिला है। साधारण तौर से यह ५० फीट ऊंचे हैं। कितने वज़नी हैं इसका अनुमान इससे लग जाता है कि एक स्तूप मुहम्मद तुग़लक उसके असली स्थान से उखड़वा कर दिल्ली ले गया था। उसे लेजाने के लिए ४२ पहियों की एक खास गाड़ी बनवाई गई थी। हर पहिए में रस्सी बंधी थी। हर रस्सी को २०० आदमियों ने खींचा था। इन शिलालेखों और स्तूपों में कुछ ऐसे हैं जिनमें अशोक की बुद्ध के जन्मस्थानों की यात्रा का उल्लेख है, कुछ में उसकी विजय अथवा शासन सम्बन्धिनी प्रसिद्ध घटना लिखी हैं। किन्तु अधिकांश में उसकी धर्म शिक्षाएं अंकित हैं। धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व के साथ इन स्तूपों में तत्कालीन इंजी-नियरी, प्रस्तर (वास्तु) तथा मूर्ति-कला की चरम उन्नति का नमूना भी मिलता है। कहा जाता है कि सम्राट् ने ८४,००० स्तूप निर्मित कराए थे। इनके अलावा पहाड़ों की गुफाओं में भी बहुत से विस्तृत एवं कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर निवास स्थान भी बनवाए गए थे। अशोक ने बहुत से नगर

भी बसाए थे। काश्मीर का श्रीनगर उसी का बसाया हुआ कहा जाता है। इसमें उसने ५०० बिहार बनवाये थे। पाटलिपुत्र में उसने इतने सुन्दर नक्काशी के काम बनवाए थे कि फ़ाहियान ने उन्हें देखकर कहा था कि 'इन्हें इस संसार का कोई मानुषीय हाथ नहीं बना सकता है।'

चंद्रगुप्त मौर्य ने ऊर्जयत पर्वत पर सुवर्णसिक्ता, पलाशिनी आदि नदियों का बाँध बनवाना आरम्भ किया था। अशोक ने इस 'सुदर्शन' झील को पूर्ण किया। इस बृहत् जलराशि का आयोजन सिंचाई के लिए किया गया था। ऊपर कहा जा चुका है कि अशोक ने यात्रियों के सुभीते के लिए सड़कों के दोनों ओर आम के वृक्ष लगवाए थे; आधे-आधे कोस के फ़ासले पर कुएं खुदवाए थे; विश्राम-गृह बनवाए थे और पौसले चलवाता था। जानवरों और आदमियों के लिए उसने बहुत से औषधालय खोले थे।

इन कार्यों के करते हुए भी अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के शासन की भी अवहेलना नहीं की। यद्यपि चन्द्रगुप्त शासन सम्बन्धी सब प्रकार के नियम एवं प्रबंध अपने जीवन काल में ही कर गया था, फिर भी अशोक ने उनमें बहुत से नए सुधार किए। यह उसके शिलालेखों से ज्ञात होता है इनसे विदित होता है कि अशोक शक्ति तथा दृढ़ता से युक्त शासक था और उसने बुद्धिमानी से अच्छी तरह राज्य किया था। उस पुराने जमाने में भी जब आजकल की तरह रेल, तार, वायुयान, तोपें, आदि वस्तुएं न थीं, अशोक का हुक्म अफगानिस्तान तक फैले हुए बड़े राज्य में माना जाता था। उसमें इतनी शक्ति थी कि गद्दी पर बैठने के नवें वर्ष ही उसने अपनी

तलवार म्यान में रख कर भी अपने राज्य के सीमान्त प्रदेशों को उभड़ने न दिया, राज्य भर में आलीशान इमारतें और कारीगरी में बढ़े चढ़े स्तूप बनवाए और सदाचार तथा पवित्र विचारों के प्रचार में अपना समय लगाया। अशोक के से विस्तृत राज्य का शासन केन्द्र में बैठे हुए एक व्यक्ति के द्वारा सफलता-पूर्वक नहीं हो सकता। इसलिए उसने अपना राज्य बहुत से सूबों में बांट दिया था। सम्राट निःसन्देह सर्वप्रधान था। उसके अधिकार अपरिमित थे। किन्तु व्यवहार में यह अधिकार हिन्दू-धर्मशास्त्रों में बतलाए हुए नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। सारे राज्य में एक-से नियम नहीं प्रचलित किये गये थे। भिन्न-भिन्न जातियों जनपदों संघों और परिवारों को अपने-अपने नियमों पर चलने की स्वतंत्रता थी। फलतः जनता परतंत्र न थी। अशोक अपने अधिकार के नैतिक आधार और जनता की रक्षा के दायित्व पर अधिक ज़ोर देता था। वह प्रजा को पुत्रवत् मानता था। इन विचारों के कारण वह अपने को प्रजा का सेवक समझकर काम करता था। सम्राट् प्रजा का एक प्रकार से निरीक्षक था। उसकी सहायता के लिए महामात्यों की एक समिति भी थी। वह अपने राज्य के हर भाग की जानकारी रखना चाहता था। इसलिए वह देश और प्रजा का निरीक्षण करने के लिए लगातार दौरा किया करता था। इस प्रकार वह राजा का अपनी प्रजा की पूर्ण जानकारी रखने का कर्तव्य भलीभाति पालन करता था। सम्राट् के नीचे 'वायसराय' होते थे। यह बड़े-बड़े सूबों के हाकिम होते थे। राजघरानों के लोग ही यह अधिकार पाते थे। छोटे प्रांतों के आला हाकिम 'राष्ट्रीय' कहलाते थे।

इनके बाद ज़िलों के अफसर 'प्रादेशिक' होते थे। इनका काम था प्रजा के सुख, और आनन्द की देख-रेख करना, अन्याय से बन्दीगृह में डालने और शारीरिक दण्ड देने से रोकना, राजकीय दानाध्यक्ष का काम करना, दीवानी, फ़ौजदारी और मालगुजारी के महकमों का जिम्मेदार होना आदि। राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों के प्रधान 'मुख्य' या महामात्र कहे जाते थे। परम्परागत राजकीय-विभागों को रखते हुए अशोक ने अपने राज्य में एक नया विभाग खोला था। इस विभाग का काम उसके बतलाए हुए धर्म का प्रचार करना था। वह मानता था कि राज्य की पहली चिन्ता प्रजा की नैतिक उन्नति होना चाहिए। इसीलिए 'धर्म-विभाग' की स्थापना की गई थी। उसने निश्चय किया था कि अन्याय का दमन करने के लिए वह हर पाँचवें साल नम्र सदाचारी, एवं अहिंसावादी लोगों को जो उसके उद्देश्य अच्छी तरह समझते थे, बाहर भेजा करेगा। आगे चलकर उसने अपने सभी अफ़सरों को हुक्म दे दिया कि वे हर पाँचवें साल शासन तथा धर्म सम्बंधी कार्यों के लिए देश भर में दौरा किया करें। कुछ दिनों के पश्चात् 'धर्म महामात्र' ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि सभी लोगों को नैतिक तथा आत्मिक अभ्युत्थान की ओर अग्रसर करने के लिए नियुक्त किए गए। इन महामात्रों का काम यह भी था कि विदेशों में धर्म-प्रचार की व्यवस्था करें।

अशोक का राज्यशासन भी अन्य प्रसिद्ध सम्राटों से किसी प्रकार घटिया न था। सिंचाई का यह काम अलग था। खेती की उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था। क्योंकि राज्य कर खेती पर ही अधिकतर निर्भर रहता था। समस्त

कृषि-भूमि राज्य की समझी जाती थी। कृषक उपज का एक चौथाई लगान के रूप में राज्य को दिया करते थे। अच्छी सड़कें बनवाई गई थीं। उनकी मरम्मत होती रहती थी। मुख्य सड़कों पर खम्भे गड़वाए गए थे, जो मील की पत्थरों का काम देते थे। अशोक ने अपनी राजधानी बहुत सजाई थी। तीस आदमियों की एक सभा इस शहर की सारी बातों का प्रबन्ध किया करती थी। आजकल की-सी म्यूनिसिपैलिटी थी। फाँसी का दण्ड अपने राज्य से उठा न करके भी अशोक ने सजाएँ एक प्रकार से बहुत सरल करदी थीं। राजतिलक के दिन की वर्ष गांठ के समय फाँसी की सज़ा पाये हुए सभी बन्दी छोड़ दिया जाया करते थे। देश में 'शान्ति एवं नियम' की रक्षा के लिए अशोक एक बड़ी सेना रखता था। इसमें ६०,००० पैदल, ३०,००० सवार, ९,००० हाथी और बहुत से रथ थे।

इस प्रकार राज्यब्यवस्था का पूरा ध्यान रखते हुए अशोक ने राजनीति में भी कुछ महत्व पूर्ण विचार मिला दिए थे। उसने राजनीति सदाचार तथा अध्यात्म का सम्मिश्रण कर दिया। (हमारे ज़माने में गांधी इस विषय में अशोक की प्रतिमूर्ति हैं। इस बीसवीं सदी में भी उसकी राजनीति धर्म, सत्य, अहिंसा आदि से अलग नहीं हो सकती।) एक ही युद्ध की नर हत्या ने उसे सचेत कर दिया। वह इसे पाप पूर्ण काम समझने लगा। वह मार काट से अपवित्र युद्ध को सच्ची जीत समझने लगा। उसकी समझ में सच्ची जीत सत्य की विजय में थी, न कि शक्ति के जीत में। सारे राज्य को उसने अहिंसा और शांति धर्म से दीक्षित कर दिया। युद्ध के नगाड़े की आवाज़

बन्द हो गई। रण भेरी नहीं धर्म भेरी सुनाई पड़ने लगी। उसने बहुत से पड़ोसी राज्यों के निवासियों को दुनियावीं तौर से गुलाम नहीं बनाया। उत्तर पश्चिम में यवन, कम्बोज और गान्धार, मध्यदेश में नाभपन्ति, भोज, आंध्र, पुलिन्द, राष्ट्रिक आदि और दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र इत्यादि सम्राट् के भाई बना लिए गए। इन्हें फ़ौज की तलवार से नहीं नैतिक एवं धार्मिक सिद्धांतों के अमोघ अस्त्र से विजित किया गया। अधिकृत देश-वासियों को वह सन्देश भिजवाता था कि 'सम्राट् चाहता है कि उन्हें उससे डरना नहीं, बल्कि उसका विश्वास करना चाहिए। उससे दुःख नहीं आनन्द प्राप्त करना चाहिए।' इस तरह चारों दिशाओं में आजादी, शान्ति, और मैत्री धर्म का दिव्य जय घोष व्याप्त हो गया। यह सन्देश उपदेशकों ने सुनाया, भिक्षुकों ने हृदयंगम कराया, अमिट स्तूपों और शिलाओं ने राहगीरों को रोक-रोक कर पढ़ने के लिए बाध्य किया। अशोक की अभिलाषा थी कि 'सीमान्त प्रदेशों के निवासी उससे प्रेम और उस पर विश्वास करने लगें'। साथ ही वह यह भी चाहता था कि 'वे पवित्रता के पथ पर चलने लगें।' अस्तु ;

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ही पहला ऐतिहासिक सम्राट् है जिसने पृथ्वी से युद्ध का अस्तित्व मिटा देने का व्यवहारिक प्रयोग प्रारम्भ किया था। शान्ति और प्रेम का साम्राज्य स्थापित करने की संसार में उसने ही सर्वप्रथम सफल चेष्टा की थी। तलवार के बल पर प्राप्त विजय को वास्तविक विजय न समझने वाला पहला महान् सम्राट् अशोक ही हुआ है। धर्म, प्रेम एवं भ्रातृ भावों

के द्वारा सच्ची तथा चिरस्थायी विजय का स्वरूप इसी भारतीय राजाधिराज ने संसार के सम्मुख रखा है। इस ब्रह्मास्त्र से, इस अचूक रामबाण से अपने राज्य की सीमा के भीतर ही नहीं किन्तु अनेकों पराए देशों में भी अपना सिक्का जमाने वाला कदाचित् अशोक से पहले और उसके बाद भी, कोई दूसरा माई का लाल नहीं हुआ। इन्हीं कारणों से वह सचमुच प्रियदर्शी अशोक था।

---o---

सम्राट् समुद्रगुप्त

प्तवंश का द्वितीय सम्राट् समुद्रगुप्त की भारतीय इतिहास के अत्यन्त कलाविद् और विख्यात् शासकों में गणना की जाती है। उसके पिता चंद्रगुप्त प्रथम से इस प्रसिद्ध वंश का राज्य-सूत्र आरम्भ होता है। लिच्छिवि वंश की कुमार देवी ने समुद्रगुप्त जैसे प्रतापी पुत्र को जन्म दिया था। चंद्रगुप्त के मरने पर सन् ३० ई० में समुद्रगुप्त सिंहासन पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही समुद्रगुप्त को दिग्विजय की धुन सवार हुई। चक्रवर्ती राजा होने के लिये यह आवश्यक था कि उसकी अधीनता देश के अन्य छोटे-मोटे राजा स्वीकार करते। पहले उसकी वृहत्-वाहिनी ने दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान किया। महानदी की तरहटी में दक्षिण कोशल के राजा महेन्द्र ने उसकी अधीनता स्वीकार की। महाकान्तार (आधुनिक उड़ीसा) का व्याघ्र-राज, पिष्टपुर (वर्तमान पिथापुरम्) का महेन्द्र, कोहूर (गंजाम जिला) का स्वामिदत्त, कांची का विष्णुगोप, अवमुक्त का कीलराज, देवराष्ट्र (महाराष्ट्र) का कुबेर और कुस्थलपुर का धनञ्जय एक-एक करके उसके करद राजे बन गये। दक्षिण-विजय के अनन्तर उसने उत्तरापथ (आर्यावर्त) के उन भूस्वामियों को पराजित किया जिन्होंने उसकी सत्ता स्वीकार न की। उनके राज्य उसके बढ़ते हुये साम्राज्य के अंग हो

गये। इनमें से मुख्य पद्मावती अथवा नरवर (जो आजकल ग्वालियर राज्य में है) का राजा गणपति नाग था। इसके अतिरिक्त "रुद्रदेव, नागदत्त अच्युत, नन्दिन, चंद्रवर्मन, नागसेन, बलबर्मन और बहुत से दूसरे राजाओं को भी" समुद्रगुप्त ने पराजित किये थे। मध्य भारत के "जंगली प्रान्त" के शासकों को उसने अपना 'परिचारक' बना डाला और पूर्व तथा पश्चिम के सीमान्त राज्यों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। 'सब प्रकार के कर देने लगे और उसके हुक्म मानने लगे।' पूर्व में यह सीमान्त प्रान्त थे (गंगा और ब्रह्मपुत्र का डेल्टा) समतट, कामरूप (आसाम), कर्तृपुर (वर्तमान कुमायूँ, गढ़वाल और काँगड़ा) और नैपाल। पश्चिम में "मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खर्परिक आदि" लोगों के प्रजातंत्रों ने समुद्रगुप्त को सम्राट् माना था।

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने "पृथ्वी के सम्पूर्ण राजाओं को परास्त करके उन्हें राज्य-सम्पति से रहित कर दिया।' इन विजयों का फल यह हुआ कि "समुद्रगुप्त की समता करने वाली कोई दूसरी विरोधिनी शक्ति न रह गई।" (ईराण शिलालेख) समुद्रगुप्त की इस दिग्विजय को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कुछ राजाओं को पराजित करके उसने उनका राज्य अपने राज्य में मिला लिया, कुछ को हराने के बाद क़ैद कर लिया और फिर उन्हें उनका पहला राज्य देकर अपना करद बना लिया, और कुछ सीमान्त राज्यों ने बिना किसी युद्ध के ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी।

इस तरह की विजय चंद्रगुप्त मौर्य के पश्चात् समुद्रगुप्त ने ही की थी। मौर्यों के बाद इतने विस्तृत साम्राज्य का स्वामी कोई दूसरा राजा नहीं हुआ था। उसके राज्य का विस्तार ब्रह्मपुत्र से चंबल तक और हिमालय से नर्मदा तक था। इससे भी अधिक भू-क्षेत्र पर उसका प्रभाव, चक्रवर्तित्व और अन्तर्जातीय सम्बन्ध था। एक चीन देश का इतिहासकार लिखता है कि लंका के राजा मेघवर्मन (राज्यकाल ई० ३५२-७६) ने समुद्रगुप्त के पास बुद्ध गया में बौद्ध यात्रियों के ठहरने के लिए संघाराम बनवाने की आज्ञा लेने के लिए बहुत से हीरा-मोतियों का उपहार देकर अपना राजदूत भेजा था। समुद्रगुप्त ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया। फलतः ह्यूनसांग के शब्दों में 'महाबोधि संघाराम' तैयार करवा दिया गया। इसमें १००० भिक्षु रह सकते थे। लंका का राजा इस कारण समुद्रगुप्त से मित्रता का व्यवहार करने को उत्सुक रहता था। उत्तर-पश्चिम में दूरवर्ती शक राजाओं ने समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार किया था। गांधार के 'शाहि' कुशन और काबुल से आक्सस नदी तक राज्य करने वाले 'शाहांशुआहि' भी भारतीय विजेता के मित्र थे।

दिग्विजय करने के अनन्तर भारतीय प्रथा के अनुसार समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया। इस अवसर की स्मृति हमें उस समय प्रचलित किये गये कुछ सोने के सिक्कों में मिलती है। यह मुद्राएं ब्राह्मणों को देने के लिए बनवाई गई थीं। इनके एक ओर बलिवेदी के सम्मुख खड़े घोड़े का चित्र है। इस चित्र पर यह जनोक्ति है कि "अपराजेय शक्ति का सम्राट् पृथ्वी जीत लेने के पश्चात् अब (यज्ञ करके) स्वर्ग विजय

करता है।" सिक्के के दूसरी ओर साम्राज्ञी का चित्र है। इसी अश्वमेध की सूचना उस पत्थर के घोड़े से मिलती है जो आजकल लखनऊ के प्रान्तीय अजायबघर में रखा है। अश्वमेध कर चुकने पर समुद्रगुप्त हिन्दू रीति के अनुसार चक्रवर्ती हुआ। प्रयाग के पास झूँसी में एक कुआँ है। उसे 'समुद्रकूप' कहते हैं। जन श्रुति है कि इसी अश्वमेध की स्मृति में यह पाताल-स्रोत कूप खुदवाया गया था।

इन युद्ध-विजयों के कारण इतिहासकार समुद्रगुप्त को भारतीय नैपोलियन कहते हैं। वस्तुतः वह इस नाम का अधिकारी है। किन्तु समुद्रगुप्त केवल वीर योद्धा, विजयी सेनापति और अपने आतंक से शत्रुओं को कंपा देने वाला सम्राट् ही न था; वरन् वह विद्वान्, सहृदय कवि, चतुर नायक और अन्य कलाओं का ज्ञाता भी था। प्रयाग के क़िले में अशोक की लाट है। उसमें समुद्रगुप्त का भी लेख है। उसमें उसे "शास्त्र तत्वार्थ भर्तु:" कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त शास्त्रों का पूर्णज्ञ पण्डित था। इसी शिलालेख में उसे स्वयं विद्वान् होते हुए विद्वानों के समाज का प्रेमी बतलाया गया है। शास्त्रज्ञ ही नहीं वह 'कविराज' भी था। उसकी बहुत सी काव्य-रचनाएँ विद्वानों की जीविका की साधन थीं।" उसकी कवित्व शक्ति का यश समस्त साम्राज्य में व्याप्त था। ("कीर्तिराज्यं भुनक्ति"—प्रयागीय शिलालेख) 'उसकी कविता कवियों के मस्तिष्क से निकली हुई सच्ची कविता होती थी। उसकी प्रखर बुद्धि कस्यप को भी लज्जित करती थीं।'

भर्तृहरि ने कहा है कि 'साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशु पुच्छ विषाण हीनः' (अर्थात् साहित्य, संगीत

और कला न जानने वाले मनुष्य बिना सींग-पूँछ का पशु होता है)। समुद्रगुप्त युद्ध कलाविद् होते हुए भी साहित्य-कला, कविता का ज्ञाता था—यह देख लिया गया। किन्तु जब तक कवि अपनी कविता को राग-रागिनी से युक्त नहीं बताता तब तक उसका वास्तविक आनन्द नहीं मिलता। समुद्रगुप्त उस्ताद गवैया भी था। उसके 'गांधर्व-लालित्य' (प्रयागीय शिलालेख—पंक्ति २७) से नारद भी लज्जित हो जाते थे। उसके कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनमें सम्राट् एक ऊँची पीठ वाली आराम कुर्सी पर बैठा है, उसका बांया पैर 'स्टूल' पर रखा है, दाहिना मुड़ा है, टोपी लगाये, हार, बालियाँ और चूड़ा पहने है। उसकी जांघों में वीणा रखी है। उसे बजा रहा है। इस सिक्के से प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त वीणा बजाने में निपुण था।

इन ललित कलाओं के साथ समुद्रगुप्त युद्ध-कला जैसी कठोर-कला में भी दक्ष था। कुछ सिक्कों में वह एक हाथ में धनुष लिए दूसरे से उसमें बाण संयोजित करते हुए मिलता है। एक दूसरे सिक्के में 'व्याघ्र पराक्रम' समुद्रगुप्त एक चीते के ऊपर खड़ा पाया जाता है। यह चीता उसका तीर लगने से आहत होकर धराशायी मालूम पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है मानों वीरता स्वयं मूर्तिमती होकर हमारे सम्मुख खड़ी है।

अपने जीवन का अधिकांश युद्ध के मैदान में बिताने और शत्रुओं से निर्दयता का व्यवहार करने पर भी समुद्रगुप्त अपने सेवकों और प्रजावर्ग पर दया करता था। लोह-वर्म के भीतर दया एवं प्रेम से पूर्ण हृदय था। शिलालेख में अंकित है कि उसका हृदय दया से युक्त था, यह भक्ति और आज्ञा पालन

से जीता जा सकता था। शत्रुओं को जीत लेने के बाद वह अपने अफ़सरों को आज्ञा दिया करता था कि विजित राजाओं के पास उनकी सम्पत्ति ज्यों की त्यों रहने दी जाय। अपनी प्रजा के लिए तो वह "करुणा का साक्षात् अवतार था, वह ग़रीबों, असहायों और विपत्ति में फँसे हुए लोगों की सहायता करने के उपाय सोचा करता था।" प्रयाग के शिलालेख में उसे करोड़ों गाय दान में देनेवाला लिखा है। 'इराणा शिलालेख' में लिखा है कि अश्वमेध के समय उसने 'सुवर्ण दान' दिया था।

समुद्रगुप्त के पश्चात् गुप्तवंश के कुछ राजाओं के शिला, ताम्र आदि में लेख पाए जाते हैं। इन लेखों में से एक में उसके कुछ विशिष्ट गुणों का कीर्त्तन इस प्रकार किया गया है। वह सम्पूर्ण राजाओं को परास्त करनेवाला था, संसार में उसका प्रतिद्वंदी कोई न था; वह धनद (कुबेर), वरुण, इन्द्र और अन्तक (यम) के समान था; उसका अस्त्र स्वयं कृतान्त (यमराज) का परशु था; चारों समुद्रों तक उसका यश व्याप्त था; वह अपने न्याय्यार्जित अतुल धनराशि में से अगणित गाय और करोड़ों स्वर्ण खण्ड देनेवाला तथा अति-काल से बन्द हयमेध का पुनरुद्धार कर्ता था।"

इस सम्राट् की कुछ मुद्राओं से इसके धर्म का भी हम पता चला सकते हैं। इसके पिता की राज्य-पताका में दूज के चाँद का चिन्ह बना रहता था समुद्रगुप्त ने इसके स्थान पर अपनी पताका में गरुड़ का आकार निर्मित करवाया। गरुड़ विष्णुका वाहन है। इससे प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त विष्णु का उपासक था। इसका पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय भी 'भागवत'

था। वैष्णव होते हुए भी समुद्रगुप्त धर्मान्ध न था। उसमें अन्यधर्मों के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शन करने की उदारता थी। कहते हैं कि उसपर प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु और ग्रंथकार वसुबंधु की शिक्षाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। इसी की संगति के प्रभाव से कहते हैं, उसनें लंका के राजा मेघवर्मन को बुद्ध गया में संघाराम बनवानें की आज्ञा दे दी थी।

इन सद्गुणों से युक्त समुद्रगुप्त ने अपनें विशाल साम्राज्य पर शांतिपूर्वक कोई ५० वर्ष राज्य किया था।

श्री शङ्कराचार्य
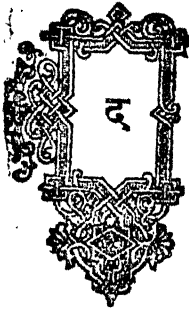
दक्षिण भारत का मलावार प्रान्त प्राचीन काल से संस्कृति के पंडितों और कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों का निवास-स्थान चला आता है। ईसा की आठवीं शताब्दी में इस प्रदेश में 'पूर्णा' नदी के किनारे 'कालटी' गाँव में विद्याधर नाम के एक ब्राह्मण रहते थे। यह शास्त्र-पारंगत सदाचारी, धर्मात्मा एवं अत्यन्त विद्वान् थे। जनता इनका बहुत सम्मान करती थी। इनके पुत्र हुए शिव गुरु। गुरुकुल में विद्याध्ययन कर चुकने पर इनकी मनोवृत्ति विरक्ति की ओर झुक रही थी। किन्तु गुरु के उपदेश से इन्होंने असामयिक संन्यास न लिया। इनका विवाह परम विदुषी कामाक्षी के साथ हुआ। अधिक समय तक सन्तान न होने से दम्पति को चिन्ता होने लगी। आपस में सलाह करके दोनों प्राणियों ने भगवान् शिव का व्रत करना आरम्भ कर दिया। निराहार, जल-शयन और पञ्चाग्नि-सेवन किए। एक रात शिवगुरु से स्वप्न में एक बुड्ढे ब्राह्मण ने कहा कि 'हे पुत्र तुम्हारी साधना सफल हुई। पुत्र का मुँह तुम्हें अवश्य देखने को मिलेगा। किन्तु यह बतलाओ कि तुम अधिक आयु भोगनेवाला मूर्ख बेटा पसन्द करोगे अथवा थोड़े दिन जीवित रहकर विद्वता, साधुता और ज्ञान के बल से संसार में अपना नाम अमर कर जानेवाला प्रतिभा-सम्पन्न पुत्र।'

स्वप्न में ही तपस्वी शिवगुरु ने दूसरे प्रकार का पुत्र पाने की अभिलाषा प्रकट की। जब यह हाल कामाक्षी देवी ने सुना तब उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। कुछ दिनों के बाद यह बात सच हुई। कामाक्षी ने पुत्र-रत्न को अपनी कोख से जन्म देकर अपनी चिर अभिलषित मनस्कामना पूरी की। वैक्रमीय सम्बत् ८४५ अथवा सन् ७८८ ईस्वी की बात है। शंकर का प्रसाद होने के कारण नवजात शिशु का नाम शंकर रखा गया।

कहते हैं कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। यह सोलहो आने सत्य है। बाल्यावस्था में ही शङ्कर में असाधारण प्रतिभा के चिह्न दिखलाई पड़ने लगे। पढ़ने-लिखने में बालक का मन बहुत लगता। उसकी बुद्धि विलक्षण थी। स्मरण तथा धारणशक्ति तो मानो उसकी चेरी थी। आठ साल की उम्र में ही वह गहन शास्त्रीय विषयों को समझ एवं उन पर विचार कर सकने लगा। यह देखकर सब आश्चर्य से चकित थे। कुछ तो उसके भीतर दिव्य-शक्ति का अन्तर्निहित होना देखने लगे। यथा समय उसको यज्ञोपवीत पहनाने का संस्कार हुआ। इसी बीच वृद्ध शिवगुरु का देहान्त हो गया। बालक शङ्कर और उसकी माँ को बहुत दुःख हुआ। वह संसार से उदास रहने लगा। दुनियावी सुख और ऐश आराम की चीज़ों में पहले से उसका मन नहीं लगता था। इस दुर्घटना से वह और भी विरक्त रहने लगा। उसे संसार असार जान पड़ने लगा। वह बस्ती के बाहर निर्जन जङ्गल में चला जाने और वहाँ विश्व के आरम्भ, सृष्टि की विचित्रता आदिपर मन ही मन विचार करने लगा। इन विचारों में वह इतना तन्मय हो जाता था कि दीन-दुनियाँ को बिलकुल भूल जाता था।

एक बार शङ्कर इसी प्रकार आत्म-चिन्तन में डूबे हुए थे। उधर ही एक साधु आ निकला। ध्यानावस्थित शङ्कर की दिव्य कान्तिमयी मूर्ति ने हठात् साधु को अपनी ओर आकर्षित किया। उसने पूछा, 'तुम कौन हो?' बालक ने उत्तर दिया कि 'मैं नहीं जानता। आपही बतलाइए कि मैं कैसे जानूं कि मैं कौन हूँ।' साधु को इस उत्तर से ज्ञात हो गया कि यह व्यक्ति आत्मान्वेषण के मार्ग का पथिक है। उसने उत्तर दिया कि 'तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है।' यही तो संसार का तत्व है। इस तत्व को दुनिया में रहकर कोई नहीं जान सकता। 'शङ्कर अब ज़रा गम्भीर हो गए। वे बोले, महानुभाव, ऐसा नहीं। वह तत्व तो आपके ही भीतर छिपा हुआ है। चिन्तन से वह प्राप्त हो सकता है।' इस गूढ़ोक्ति से साधु चकित हो गया। यह देखने में नवयुवक कोई ऐसा वैसा आदमी नहीं है। यह उसका पहला विचार हुआ। थोड़ी देर तक वह शङ्कर की ओर एकटक देखता रहा। फिर उन्हें आशीर्वाद देकर चलता बना। शङ्कर उसके पीछे-पीछे उसकी कुटी तक जा पहुँचे। वहाँ उससे सानुरोध दीक्षा देने की प्रार्थना करने लगे। साधु ने कहा कि ऐसे परमज्ञानी को शिष्य करने की सामर्थ्य उसमें नहीं। शङ्कर का आग्रह जारी रहा। अन्त में साधु ने कहा कि अभी तुम्हारी संन्यास लेने की अवस्था नहीं। तुम्हारी बिधवा माँ की देख-भाल करने वाला भी कोई नहीं। और माता की अनुमति के बिना संन्यास सफल न होगा।' इस उत्तर ने भावुक शङ्कर को बहुत दुःख पहुँचाया। साधु चला गया। आप वहीं ध्यान-मग्न हो गए। इसी दशा में शङ्कर ने 'आत्मबोध' नामक अपूर्व ज्ञान का ग्रन्थ लिख डाला।

बहुत खोज और परेशानी के बाद शङ्कर की माँ और रिश्ते-दारों ने उन्हें उपर्युक्त स्थिति में पाया। उनको घर ले गए।

जिन विराग-भावों ने शङ्कर के हृदय में बाल्यकाल से ही अड्डा जमा लिया था, वे प्रतिदिन बढ़ते जाते थे। शङ्कर सदा इसी फ़िक्र में रहते थे कि किस प्रकार गृहस्थी के जंजाल से छुटकारा मिले। उनकी यह दशा देखकर उनकी माँ की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। लोगों की सलाह से कामाक्षी देवी ने अपने पुत्र प्रलोभन के लिए आनन्द एवं विलास की वस्तुएँ जुटानी आरम्भ कर दीं। कुछ लोग उनके पास उठने-बैठने और उन्हें सांसारिक बातों में लगाने की कोशिश करने लगे। पर शङ्कर पर इन बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ता था एक कान से सुनकर दूसरे कान से वे सारी ऐहिक बातें निकाल दिया करते। लोग जितना ही शङ्कर को सांसारिक बंधनों से जकड़ने का प्रयत्न करते उतना ही वे उनसे दूर हटते जाते थे। किंतु उन्हें कोई ऐसा उपाय नहीं सूझता था जिससे माँ से विरक्त हो जाने की अनुमति प्राप्त हो सकती।

इसी बीच शङ्कर अपनी माँ के साथ किसी दूसरे गाँव को गए। रास्ते में एक नदी पड़ती थी। उसमें पानी बहुत कम था। पार कर सकना कठिन न था। माँ-बेटे हिल पड़े। बीच धारा में पहुँचने पर यकायक नदी में बाढ़ आ गई। पानी बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगा। दोनों बहुत घबड़ाए। इतने में शङ्कर ने आकाश वाणी सुनी कि यदि वह संन्यास ले ले और माँ की आज्ञा से, तब तो वे लोग बच सकेंगे अन्यथा डूबना निश्चित है। शङ्कर ने अपनी माँ से यह ईश्वरीय आदेश कह सुनाया। वह अधीर होकर रोने लगी। एक ओर मौत थी, और दूसरी

ओर था मृत्यु के समान ही पुत्र का सदा के लिए वियोग। बड़े असमंजस में पड़ गई। उधर पानी बराबर बढ़ रहा था। शङ्कर क्षण भर में संन्यास ग्रहण कर लेने की आज्ञा माँग रहे थे। अन्त में जब प्राण बचने की कोई आशा न रही तो कामाक्षी देवी ने ईश्वर की इच्छा समझकर स्वीकृति दे दी। इतना कहना था कि नदी तुरन्त उतर चली। माँ अपने पुत्र की जान बचाकर घर पहुँची।

घर पहुँचकर शङ्कर ने संन्यास लेने की तैयारी शुरू कर दी। आत्मीय जनों को माँ की देख-भाल का भार सौंप दिया। माँ ने बहुतेरा चाहा कि शङ्कर उसे न छोड़े पर सब प्रयत्न निष्फल हुए। अन्त में उसने शङ्कर के सामने एक शर्त रखी। कहा कि यदि तुम हर वर्ष एक बार मुझसे भेंट करने आने का वादा करो तो मैं दैवेच्छा के अनुकूल तुम्हें गृह-त्याग की अनुमति दे दूँ। माँ की यह अन्तिम माँग शङ्कर अस्वीकार न कर सके। सदैव के लिए विदाई लेने का समय आया। मोह के समुद्र में ज्वार आने लगा। शङ्कर ने अपने को बहुत सँभाला। आख़िरकार हृदय कड़ा करके वे सबसे नाता तोड़कर चल दिए।

उन दिनों दक्षिण भारत में गोविन्दपाद नाम के एक अत्यन्त विद्वान्, कर्मनिष्ठ एवं त्यागी पण्डित थे। बौद्ध धर्म में उस समय बहुत-सी बुराइयाँ आ गई थीं। लोग बुद्ध के बतलाए हुए सिद्धान्तों को छोड़कर पतन की ओर अग्रसर करनेवाली बातें करने लगे थे। जनता में धर्म के नाम पर अधर्म का बाज़ार गरम था। लोग फिर से वैदिक धर्म की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। कुछ प्रसिद्ध विद्वानों

ने सनातन धर्म का जय घोष कर दिया था। कुमारिल भट्ट, गौड़पाद इनमें मुख्य थे। इन्हीं गौड़पाद के शिष्य आचार्य गोविन्दपाद थे। यह अपने आश्रम में बहुत से ब्रह्मचारी रखते थे। उन्हें वेदान्त की उच्च शिक्षा देकर बौद्धधर्म का विध्वंस करने के लिये तैयार करने थे। इनकी विद्वता, सज्जनता आदि की खूब ख्याति थी। शंकर ने घर से निकल कर इन्हीं के पास विद्या और योग की शिक्षा लेने का निश्चय किया। निदान गोविन्द पाद जी के पास पहुँचे। यह महाशय हर किसी को अपना शिष्य नहीं बनाया करते थे। पहले जाँच करके देख लिया करते थे कि शिष्यत्व का इच्छुक उसके योग्य है अथवा नहीं। शंकर की इसी नियम के अनुसार गोविन्द ने परीक्षा ली साधारण शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों से लेकर गूढ़ दार्शनिक विषयों तक के सवाल पूछ डाले। शंकर के उत्तरों ने उन्हें सन्तुष्ट ही नहीं आश्चर्यान्वित भी कर दिया। १६-१७ वर्ष के बालक में इतना ज्ञान! एक तो वह शंकर का देदीप्यमान चेहरा देखकर ही दंग थे। जब उनकी बुद्धि की प्रखरता का प्रमाण मिला तब वे सोचने लगे कि हो न हो ईश्वर ने इसी होनहार विभूति के द्वारा वैदिकधर्म का पुनरुद्धार करने का आयोजन किया है। शंकर आश्रम में भर्ती हो गये। शिष्य-मण्डली को एक अलौकिक साथी मिला और गुरु को अद्वितीय शिष्य। श्री गौड़पाद ने एक बार अपने शिष्य श्री गोविन्द पाद के आश्रम का निरीक्षण किया। श्री शंकर की दिव्य मूर्ति एवं प्रतिमा ने उन्हें भी उनके सनातनधर्म का उद्धारकर्ता होने की भविष्य वाणी करने को बाध्य किया।

गुरु के आश्रम में रहकर शंकर ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना

आरंभ किया। योगाभ्यास भी इनका खूब बढ़ गया। योगबल से इन्होंने कई आश्चर्य-कर्म भी किये। गुरु के ध्यान में अपने कल-कलनाद् से बाधा पहुँचाने वाली आश्रम-सरिता की गति बन्द् करना, अपनी माता के लिए दूर बहने वाली नदी की धारा उनके निकट कर देना, प्रभाकर नामक दरिद्र ब्राह्मण के दुष्ट पुत्र को जल के छींटे से परम ज्ञानी बना देना और अपनी आध्यात्मिक शिक्षा से एक धनवती स्त्री को सच्चे सुख के मार्ग में लगा देना आदि इनके विख्यात् काम हैं। गोविन्द पाद् स्वामी को शंकर की मनोवृत्ति ज्ञात थी ही। वह सुपात्र ब्राह्मण भी थे और अब सम्यक् विद्वान् भी हो गये थे। इसलिये उपयुक्त अवसर आने पर उन्होंने शंकर को संन्यास धर्म की दीक्षा दी। शंकर का नाम शंकराचार्य हो गया। गुरु ने आज्ञा दी कि संसार से बौद्धधर्म का मूलोच्छेदन और उसके स्थान पर वैदिक धर्म का बीजारोपण करो। शंकर ने गुरु की आज्ञा सर-माथे रखी। हाथ में मेरु-दण्ड लेकर निकल पड़े।

शङ्कराचार्य ने चारों ओर घोषित कर दिया कि वैदिक धर्म ही सच्चा धर्म है। बौद्ध धर्म और वाममार्ग पाखण्ड पूर्ण हैं। जो लोग इन्हें सत्य मानते हों वे आकर मुझसे शास्त्रार्थ कर लें। इस घोषणा ने देश में तहलका मचा दिया। बौद्ध और वाममार्गी उनको खुल्लमखुल्ला नास्तिक, धूर्त आदि उपाधियाँ देने लगे। शास्त्रार्थ हुये। छोटे-बड़े सभी विधर्मी उनसे हारने लगे। हारे हुये लोग उनको मारने की गुप्त योजनाएँ करने लगे। परन्तु ब्रह्मचारी शङ्कर को इनका भय न था। इस प्रकार पाखण्ड-खण्डन करते हुये वे राजा सुधन्वा की सभा में पहुँचे। यह बौद्ध था। इसकी सभा में बहुत से विद्वान् थे।

शङ्कर ने सबको शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। पण्डितों नें पहले तो शास्त्रार्थ न करने की बहुत तरकीबें कीं, लेकिन अन्त में सुधन्वा के हुक्म से उन्हें शङ्कर का सामना करना पड़ा। शङ्कर नें वाम-मार्ग की धज्जियाँ उड़ा दीं। बौद्ध धर्म के प्रचलित दोषों को एक-एक करके नग्नरूप में रख दिया। बुद्ध के सिद्धान्तों की भी बुरी तरह से खबर ली। परिणाम यह हुआ कि विपक्षियों ने मुँहकी खाई। सुधन्वा ने वैदिक धर्म अंगीकार कर लिया। शङ्कर स्वामी की धाक जम गई। चारों ओर उनकी विद्वता की तूती बोलने लगी। आगे चलकर वे काशी पहुँचे। वहाँ वैदिकमत के अनुयायियों में जो दूषण आ गये थे उन्हें दूर किया। फिर बौद्ध और वाममार्गी लोगों को शास्त्रार्थ के लिये निमंत्रित किया। बड़े-बड़े दिग्गज पण्डित बात की बात में हारने लगे। लोगों ने उन पर आक्रमण भी किये किन्तु सुधन्वा के सैनिक उनकी शरीर-रक्षा करते रहे। काशी में वैदिक धर्म का नगाड़ा फिर बजने लगा।

काशी को पुनः सनातनधर्म का जीवित केन्द्र बनाकर शंकराचार्य आगे बढ़े। चलते-चलते वाममार्गियों के प्रधान स्थान 'मध्यार्जुन' पहुँचे। 'पंचमकार' के उपासकों ने तंत्रों के प्रभाव से जनता को अन्धा कर रखा था। वहाँ पहुँचकर शिव जी के मन्दिर में पूजा करते समय शंकराचार्य को भगवती के साक्षात् दर्शन हुए। मन्दिर में यह ध्वनि हुई कि 'अद्वैत वाद' ही सत्य धर्म है। यह अन्तरिक्ष से आया हुआ शब्द सुनकर मध्यार्जुन वालों को निश्चय हो गया कि शंकर अवश्य ही दैवी विभूति हैं। वे झुंड के झुंड वैदिक धर्म के झण्डे के नीचे आने लगे। इसके पश्चात् वे वाममार्ग के दूसरे अड्डों में भी गए।

सर्वत्र लोगों ने वैदिक धर्म की शरण ली। फिर दक्षिण में रामेश्वर की ओर बढ़े। मार्ग में द्वैतवादी जनता को, अद्वैत सिद्धान्त का भक्त बनाया। तदनन्तर वैष्णव तीर्थ 'अवन्त शय्या' पहुँचे। वहाँ वैष्णवों को समझाया कि धार्मिक वाह्य चिन्ह धारण करने मात्र को धर्म समझ लेना भूल है। उन्हें 'अहं ब्रह्म' और 'आत्मज्ञान' रहस्य समझाया। इसके पश्चात् वह उत्तराखण्ड पहुँचे। वदरिकाश्रम में उन्होंने अथर्ववेद के प्रचार के लिए एक मठ स्थापित किया। यह मठ आज भी 'जोशी मठ' के नाम से स्थित है। वहां से चलकर मध्यार्जुन में 'शृंगेरी मठ' स्थापित किया। इसका अध्यक्ष पद अपने विद्वान् शिष्य सुरेश्वराचार्य को दिया।

अनेक स्थानों में घूमते हुए शंकराचार्य द्वारकाधीश पहुँचे। वहां 'शारदा' मठ की स्थापना सामवेद के अध्ययन एवं प्रचार के लिए की। यहां से चलकर इन्होंने आदित्य, गणपति, अग्नि, नृसिंह आदि के उपासकों के भ्रम दूर किए। उन्हें अद्वैत का तत्व समझाया। फिर कांची पहुँचे। वहां के वौद्ध राजा हिम शीतल के पण्डितों का मानमर्दन किया। राजा अपने सम्पूर्ण समाज के साथ शंकर का भक्त होगया, वैदिक धर्म के प्रचार के लिए शिव तथा विष्णु कांची में दो मठ स्थापित किए।

इसके पश्चात् अन्य स्थानों में इन्होंने वैदिक धर्म का झण्डा गाड़ा। इसी बीच इन्हें समाचार मिला कि प्रसिद्ध वैदिक-धर्मी विद्वान् कुमारिल भट्ट प्रयाग में तुषानल में जल रहा है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि कुमारिल ने वौद्धों का रहस्य जानने के लिए कपटी वेष से उनके विहार में वौद्ध शास्त्र पढ़े थे। इस कपटाचरण का प्रायश्चित करने के लिए

उसने चावल की भूसी की आग में जलने का निश्चय किया था। शंकर प्रयाग पहुँचे। दोनों ने एक-दूसरे का नाम सुन रखा था। वैदिक धर्म के उद्धार के लिए शंकराचार्य ने कुमारिल को प्राण न देने का बहुतेरा आदेश दिया किन्तु अटल व्रती भट्ट ने अपना प्रण न छोड़ा। मरते समय उसने शंकर से कहा कि वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करने में आप को प्रसिद्ध विद्वान मण्डन मिश्र से बहुत सहायता मिलेगी। अतः उसे निवृत्ति मार्ग का कायल बना कर आप उसे अपने साथ लीजिए। इसके बाद कुमारिल ने शरीर त्याग दिया।

मण्डन मिश्र का पहला नाम विश्वरूप था। यह धनी एवं प्रचण्ड विद्वान् ब्राह्मण थे कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। यह भी वैदिकधर्म के प्रचार और बौद्धधर्म के विनाश करने में अपने गुरू की भांति लगे रहते थे। इससे यह बहुत प्रसिद्ध हो गए थे। इनकी स्त्री भी परम विदुषी और सब शास्त्रों की जानने वाली थी। सरस्वती उसका नाम था। कुमारिल भट्ट के देहावसान के बाद शंकराचार्य इन मण्डनमिश्र की खोज में चल दिए। ढूँढ़ते ढूँढ़ते 'आहिष्मती' नगरी पहुँचे। यहीं उन दिनों मण्डन मिश्र रहते थे। नगर में घुसते ही शंकराचार्य को नर्मदा का जल भरने जाती हुई स्त्रियाँ मिलीं। पूँछने पर ज्ञात हुआ कि वे मण्डनमिश्र की परिचारिकाएं थीं। शंकर ने उनसे मण्डन जी के मकान का पता पूछा। उन्होंने बतलाया कि जिस मकान के द्वार पर मैना वेदों के स्वतः प्रमाण होने या न होने और संसार की नित्यता या अनित्यता पर बातें करती सुनाई पड़े उसी को मण्डन मिश्र का घर समझ लेना।' वहाँ पहुँचने पर यही दिखाई पड़ा। शंकराचार्य ने द्वार-रक्षक से

पूछा कि मण्डन जी घर में हैं अथवा नहीं। उत्तर मिला कि वे श्राद्ध कर रहे हैं। इस समय उनके पास शिखा-सूत्र से रहित आदमी नहीं जा सकता। शंकर ने इस उत्तर की परवा न करके योगबल से सूक्ष्म शरीर से भीतर प्रवेश किया।

ऐसे अवसर निषिद्ध दर्शन एक मुण्डी भव्य एवं चमकता हुआ चेहरा देखकर मण्डन को आश्चर्य हुआ। उन्होंने शिष्टा-चार के बाद उनके आने का कारण पूछा। शंकर ने कहा कि आपकी विद्वता की ख्याति सुनकर, मैं इस श्राद्ध के दिन आप से एक भीख मांगने आया हूँ, और वह है शास्त्रार्थ की भीख। मण्डन ने कुछ देर तक अत्यन्त क्रुद्ध होकर व्यंग भरी बातें की। शंकर ने उन्हें निरुत्तर कर दिया। मण्डन को क्रोध की अधिकता के कारण अपने यहां आए हुए व्यक्ति से शिष्टता पूर्ण व्यवहार करने का ध्यान न रह गया था। उस समय वहाँ कुछ विद्वान् ब्राह्मण भी मौजूद थे। उन्होंने शंकराचार्य का प्रकाश-मान मुखमण्डल देखकर उनमें छिपी हुई दैवी-विभूति का आभास पाया। उनके कहने पर मण्डन को अपनी भूल मालुम पड़ी। वे नम्र हो गए। शंकराचार्य के प्रस्ताव पर वे तर्क से युक्त शास्त्रार्थ करने पर राजी हो गए। यह तय हुआ कि पराजित विजेता का शिष्य हो जायगा। भारती (सरस्वती) मण्डन की मध्यस्थ चुनी गईं।

यथा समय शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। दर्शकों और श्रोताओं से सभा मण्डप घिर गया। भारती ने शास्त्रार्थ शुरू होने के पहले दोनों शास्त्रार्थियों को मालाएँ पहनाईं। और कहा कि जिसकी माला पहले कुँभला जायगी वह हारा समझा जायगा। शंकर ने जीवात्मा और परमात्मा की एकता से

अपना वक्तव्य आरम्भ किया। 'एकमेवाद्वितीयम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि अद्वैतवाद के सिद्धान्त उपस्थित किए। मण्डन-मिश्र ने 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहायाम्' को प्रमाण मान कर 'कर्म ही मुक्ति का मार्ग है' अपना सिद्धान्त बतलाया। १६ दिन तक दोनों विद्वान् अपने अपने पक्षों का शास्त्रों से अनुमोदन करते रहे। अन्त में मण्डन ने शंकराचार्य का अकाट्य सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। हार मान ली। अपनी प्रतिज्ञा अनुसार उसने शंकर का शिष्य होने की इच्छा प्रकट की।

यह देखकर उभयभारती सरस्वती बहुत हैरान हुई। उसने कहा कि हे महात्मन् जब तक आप मुझे, मेरे पति के आधे हिस्से को, भी हरा न दें तब तक वे आपसे पराजित नहीं कहे जा सकते। उन्हें संन्यास की दीक्षा देने के पहले आप मुझे शास्त्रार्थ में हरा दीजिए। नहीं तो अपनी प्रतिज्ञा पूरा करना उनके लिए आवश्यक नहीं। शंकर ने यह चुनौती स्वीकार कर ली। सरस्वती देवी का पाण्डित्य देखकर सब चकित होगए। आखिरकार वह भी शंकर के सामने ठहर न सकीं। परन्तु इसी समय उन्हें शंकर को परास्त करने की एक युक्ति सूझ पड़ी। वे जानती थीं कि शंकर बाल ब्रह्मचारी हैं, उन्हें काम-शास्त्र का ज्ञान नहीं। इसलिए उन्होंने कामशास्त्र विषयक प्रश्न पूछना आरम्भ किया उनका उत्तर देने के लिए शंकराचार्य ने एक साल का अवकाश माँगा। और कामशास्त्र का अध्ययन करने निकले।

किसी विद्वान् से पढ़कर कामशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता होना सम्भव नहीं होता। बिना रमणी संसर्ग के रतिशास्त्र का ज्ञान नहीं हो सकता। बाल ब्रह्मचारी सन्यासी के लिए ऐसा करना

अपने सारे जीवन का संचित कोष नष्ट कर देना है। शंकर को बड़ी चिन्ता सवार हुई। घूमते-फिरते वह अमरदेव नामक एक राजा के यहां जा पहुंचे। वह अत्यन्त विषयी था। थोड़े दिनों बाद उसकी मृत्यु का समाचार शंकर को मिला। उन्हें यह भी ज्ञात हो चुका था कि अमरदेव की रानी बहुत सुन्दरी और कामशास्त्र की ज्ञाता है। समाधिस्थ होकर शंकर ने मृत राजा के शरीर में अपनी आत्मा प्रविष्ट कर दी। ऐसा करने के पहले अपने शिष्यों को अपने शरीर की अच्छी तरह रक्षा करने की ताकीद कर दी थी। साथ ही उन लोगों को कुछ श्लोक लिखा दिए और बतला दिया कि जिस समय उनका पाठ किया जायगा उनकी आत्मा फिर से उनके शरीर में आ जायगी। यह श्लोक 'मोहमुद्गर' के नाम से प्रसिद्ध हैं और शंकर दिग्विजय में देखे जा सकते हैं। शंकर की आत्मा के प्रविष्ट होते ही मृत राजा की देह में जीवन आ गया। लोग बहुत प्रसन्न हुए। शंकर राजा के शरीर के द्वारा राज सुख भोगने लगे। रानी के सहवास से उन्हें कामशास्त्र का अनुभव पूर्ण ज्ञान हो गया। इन्द्रियों से यह सांसारिक सुख भोगते हुए भी वह इनमें लिप्त नहीं हुए। उन्हें अपना ध्यान सदैव बना रहा। वे समय समय पर अपना दिव्य ज्ञान लोगों को सुना दिया करते थे। अमरदेव में यह बातें न थीं। इससे लोगों को सन्देह होने लगा कि बहुत सम्भव है किसी महापुरुष की आत्मा ने राजा की मृत देह में प्रवेश कर लिया हो। एक योगी की सलाह से मंत्रियों ने खोजवाना आरम्भ किया कि राज्य में कहीं किसी योगी की देह तो नहीं है। शंकराचार्य के शिष्यों को जब यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने 'मोहमुद्‌गर' का पाठ करना शुरू कर दिया।

शंकर फिर अपने शरीर में आ गए। उधर राजा अचेत हो गया।

अब कामशास्त्र का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करके शंकर भारती के पास पहुँचे। उसे शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। दोनों प्राणी शंकर के शिष्य हो गए। मण्डन मिश्र ने सन्यास धर्म की दीक्षा उनसे ले ली। ऐसा उद्भट विद्वान् तथा तार्किक शिष्य पाकर शंकर को वैदिक धर्म का सिक्का जमाने और बौद्ध एवं वाममार्ग का ध्वंस करने में बहुत सहायता मिली। वे देश में चारों ओर घूमकर पथभ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग दिखाने में लग गए।

इस प्रकार धर्म-प्रचार करते-करते शंकर के असंख्य भक्त और शिष्य हो गए। पर साथ ही जो धूर्त धर्म के नाम पर अन्धी जनता को ठगा करते थे, उनके स्वार्थ साधन में शंकर ने बड़ी बाधा उपस्थित कर दी। वे लोग उनके जानी दुश्मन हो गए। ऐसे लोगों में एक कापालिक भी था। उसने अपनी तांत्रिक क्रियाओं के द्वारा एक ब्राह्मणी पर संमोहन मंत्र का प्रयोग किया था। शंकर ने उस स्त्री के पति की प्रार्थना करने पर उस ब्राह्मणी को कापालिक के प्रभाव से मुक्त कर दिया। वह उनके प्राणों का ग्राहक हो गया। बहुधा कपट वेश में उनके पास आने लगा। एक दिन जब वे एकान्त में समाधिस्थ थे तब उसने शंकर के मारने के लिए तलवार चलाई। किन्तु प्रहार होने के पहले ही उसी तलवार से सनन्दन नामक शंकर-शिष्य ने उसका काम तमाम कर दिया। जनता उस अघोरपंथी के अमानुषिक कार्यों से मुक्त हो गई। एक बार यात्रा करते हुए शंकर मध्य प्रदेश के पहाड़ों से होकर गुजरे। वहां का

प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर कुछ दिन वहीं रम जाने की इच्छा हुई। शिष्य मण्डली साथ में रहती ही थी। एक दिन सब को बुलाकर आपने अद्वैत धर्म का तत्व समझाया। आत्मोन्नति के लिए विराग और त्याग की आवश्यकता बतलाई। संसार में लिप्त रहने से मोक्ष के मार्ग में सफलता नहीं हो सकती—इस पर अपने विचार सुनाए। संसार मिथ्या है, माया पूर्ण है, ब्रह्म ही सत्य है, आत्मा अविनाशी है, इन अद्वैत सिद्धान्तों का रहस्य समझाया। शिष्यों के सामने से अज्ञान का पर्दा हट गया। उन्हें इस उपदेश से परम सन्तोष हुआ।

कुछ दिनों बाद शंकर ने काश्मीर की यात्रा की। वहाँ शारदा देवी के दर्शन किए। शास्त्रार्थ भी यथा नियम हुए। लोग इनके सिद्धान्तों के कायल हो गए। वेदान्त के प्रचार के लिए एक मठ स्थापित करके शंकर बदरिकाश्रम होते हुए केदारनाथ पहुँचे। वहाँ पर उन्हें भगन्दर हो गया। दवाएँ बहुत की गईं, फिर भी रोग बढ़ता गया। अन्त में इसी रोग से उनकी लौकिक लीला समाप्त हो गई। उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी। यह संवत् ८७७ वि० की घटना है। पहले तो इनके शिष्यों को इस असामयिक मृत्यु से अत्यन्त दुःख हुआ। किन्तु जब उन्हें अपने गुरु के बतलाए हुए मृत्यु के वास्तविक अर्थ का स्मरण आया तब सारा विषाद जाता रहा। वे लोग वैदिक धर्म के फैलाने तथा अद्वैत मत के समझाने में पहले से अधिक उत्साह से लग गए।

थोड़े दिनों तक जीवित रहकर भी शंकराचार्य ने वह ठोस काम कर दिखाया जो बहुत से लोग मिलकर भी नहीं कर सकते। जीवन का अधिकांश समय शास्त्रार्थ, भ्रमण आदि में

लगाते हुए भी शंकर ने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। इनमें उनका विशाल पाण्डित्य आज भी देखा जा सकता है। उन्होंने 'प्रस्थान-त्रयी' पर भाष्य लिखे। उनका 'प्रस्थान-त्रयी' में गीता उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र की गणना होती है। इन भाष्यों का पण्डित-समाज में बड़ा स्थान है। संस्कृत भाषा तो उनकी चेरी जान पड़ती है ऐसी मधुर, ललित और शुद्ध भाषा बहुत कम मिलती है। इन सब भाष्यों तथा 'आत्मबोध' 'विवेक चूड़ामणि' आदि ग्रंथों में शंकर ने अपने अद्वैत मत का बड़ी योग्यता से प्रतिपादन किया है। संक्षेप में अद्वत सिद्धान्त यह है। सृष्टि में दिखाई पड़ने वाली वस्तुएँ एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। सब में एक ही शुद्ध और नित्य परब्रह्म व्याप्त है, उसी की माया से मानव दृष्टि को एकता में अनेकता अथवा सृष्टि में भिन्नता भासित होती है। मानव आत्मा ही वास्तव में ब्रह्म है। आत्मा और परमात्मा एक हैं—बिना इसका अनुभव हुए मोक्ष नहीं मिल सकता। इस अद्वैतवाद के अलावा शंकर-सम्प्रदाय का एक और सिद्धान्त है। उसका आशय यह है। चित्त की शुद्धि के द्वारा ब्रह्म में मिल जाने के लिए स्मृतियों में कहे गए गृहस्थाश्रम के नियमों का पालन करना आवश्यक है। परंतु इनमें सदैव लिप्त न रहना चाहिए। इन्हें त्याग कर अंत में सन्यास लेना मोक्ष प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। इस विचार को 'निवृत्ति मार्ग' कहते हैं। उपर्युक्त उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के भाष्यों में शंकराचार्य ने यह सिद्ध किया है कि उन ग्रंथों में अद्वैत तत्व के साथ यह 'सन्यास निष्ठा' भी मौजूद है। गीता के भाष्य में भी यही मत प्रतिपादित है। गीता के शंकर भाष्य में 'कर्म ज्ञान प्राप्ति का गौण साधन है और सर्वकर्म-

सन्यास पूर्वक ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है'—इस बात का प्रतिपादन किया गया है। अस्तु;

शङ्कराचार्य के ऊपर लिखे संक्षिप्त चरित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे उन्नतमना, उदार, चरित्रवान, उद्भट पण्डित और मननशील थे। उनकी तर्क शक्ति का लोहा उनके प्रतिपक्षियों ने सदैव माना था। वे वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक थे। वे योगी थे, कर्मनिष्ठ थे और पाखण्ड से अछूते थे। वे दैवी-विभूति सम्पन्न भी थे। इन्हीं सद्गुणों, और शक्तियों के कारण वे भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं।
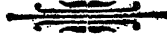
सम्राट् श्रीहर्ष

ठीं शताब्दी की बात है। थानेश्वर में प्रभाकर वर्धन राज्य करते थे। इन्होंने कई बार हूणों को हराया, मालवा को अपने अधिकार में किया और दूरस्थ गुजरात पर भी हमला किया और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इनकी रानी का नाम था यशोवती। यह बहुत गुणवती थीं। राजा इन्हें बहुत प्यार करता था। बहुत दिनों तक सन्तान का मुँह न देखने के कारण राज-दम्पति सूर्य नारायण की पूजा करके सन्तान सुख का स्वप्न देखने लगे। अन्त में उनकी इच्छा पूरी हुई। यशोवती के क्रमशः दो पुत्र और एक कन्या हुई। श्री हर्ष इनके दूसरे पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम राज्यवर्धन और पुत्री का राज्यश्री था। हर्ष का जन्म जेठ कृष्ण द्वादशी को गोधूली वेला के बाद हुआ था। 'हर्ष-चरित्र का लेखक संस्कृत का प्रसिद्ध कवि बाण कहता है कि मान्धाता के पीछे हर्ष के पैदा होने के समय ही चक्रवर्ती के जन्म की सूचना देने वाले सभी ज्योतिश्चिन्ह एकत्र हुए थे।

कुछ बड़े होने पर इनके साथ खेलने के लिए इनके मामा का पुत्र भण्डि रक्खा गया। भण्डि की उम्र प्रायः इन्हीं के समान थी। थोड़े दिनों बाद मालवा के राजा के दो पुत्र कुमार गुप्त और माधव गुप्त भी इस दल में शामिल हो गये। यह

नवयुवक 'बहुत सी परीक्षाओं के बाद हर प्रकार के ऐबों और बुराइयों से रहित, बुद्धिमान, बलिष्ट और रूपवान सिद्ध हुए थे।'

जब राजकुमार राज्यवर्धन और हर्ष कुछ और बड़े हुए तब उनके पिता ने उन्हें राज्य कार्य में धीरे-धीरे लगाना शुरू किया। कुमारों की शिक्षा का वर्णन बाण ने भी नहीं किया। किन्तु वह लिखता है कि वे थोड़े ही समय में द्वीपांतरों में भी प्रसिद्ध हो गए। इससे जान पड़ता है कि उनकी शिक्षा का प्रबंध अवश्य राजकुमारों के योग्य रहा होगा। राजकुमारी राज्यश्री भी बड़ी विदुषी थी, वह विद्या, विनय, शील और सौन्दर्य आदि सभी गुणों से युक्त थी। इससे उसकी शिक्षा के विषय में भा उपरोक्त अनुमान ठीक समझ पड़ता है। जब युवराज राज्यवर्धन कवच धारण कर सकने योग्य समझे गये तब सम्बत् ६६१ वि० में राजा ने उन्हें उत्तर की ओर हूणों पर हमला करने के लिए भेजा। उनके साथ में बहुत बड़ी सेना, अनुभवी सलाहकार और राजभक्त सेना नायक थे। हर्ष भी इनके साथ थे। दोनों भाइयों के पड़ावों में कुछ अन्तर था। हर्ष की सेना पीछे थी। वह मार्ग की प्राकृतिक सुन्दरता देखते और शिकार खेलते जा रहे थे।

इसी बीच प्रभाकर वर्धन बीमार पड़ गए। हर्ष को ज्योंही इसकी सूचना मिली तुरन्त लौट पड़े। युवराज के वापस आ सकने के पहले ही सम्राट को रोग ने पूरी तरह दबा लिया और अन्त में वह उसके शिकार भी हो गए। महारानी यशोवती ने सती होने का दृढ़ निश्चय किया। किसी के समझाने का उन पर प्रभाव न पड़ा। राज्य सिंहासन खाली रहना

ठीक नहीं। अतः हर्ष को अपने भाई के आ जाने तक के लिए राज्य प्रबंध भी करना पड़ा। राज्य वर्धन ने युद्ध समाप्त होने के पहले ही संग्राम-भूमि न छोड़ी। क्योंकि उन्हें विश्वास था कि हर्ष उनके नाम पर सारा राज्य-कार्य अच्छी तरह चलाते रहेंगे। अन्त में उनकी जीत हुई और विजयी राज्यवर्धन अपनी राजधानी आये। वहां आते ही उन्हें समाचार मिला कि मालवा-नरेश ने, जिसे प्रभाकर वर्धन अपने आधीन कर चुके थे, उनके बहनोई ग्रहवर्मा को मार डाला और राज्यश्री को क़ैद कर लिया। मालवा नरेश ने शायद समझा हो कि प्रभाकर वर्धन की मृत्यु और राज्यवर्धन के दूर देश में हूणों से युद्ध में लगे रहने से उसे आज़ाद होने का अच्छा अवसर मिल गया। किन्तु उक्त समाचार सुनते ही राज्य वर्धन की नसों में बिजली दौड़ गई। वह तुरंत अपने मंत्री भण्डि को १०,००० सवारों के साथ लेकर राज्यद्रोही को परास्त करने के लिए चल पड़ा। साथ चलने के लिए बहुत आग्रह करने पर भी हर्ष को राजधानी में ही रहना पड़ा।

राज्यवर्धन विजयी तो हुए, किन्तु गौड़-नरेश शशाङ्क ने, जो मालवपति का मित्र था, उन्हें अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों में भुला कर धोखे से मार डाला। राज्यश्री क़ैद से तो छूट गईं लेकिन अपने भाई के पास न जाकर विन्ध्याचल की ओर कहीं चली गईं। हर्ष एक साथ आई हुई इन अनेक विपत्तियों से घबड़ा उठे। इसी समय उनके पास सेनापति सिंहनाद आ पहुँचा। उसने इनको समझाया कि भाई के मरने का दुःख लिए बैठे रहना कहाँ की बुद्धिमानी है। शत्रु को तत्काल दण्ड देने के लिए उठो। हर्ष की क्रोधाग्नि में घी पड़ गया। उन्होंने

आवेश में आकर प्रण किया कि 'यदि मैं थोड़े ही समय में पृथ्वी गौड़-हीन न करूँ तो स्वयं आग में कूद पड़ूँगा।'

हाँ, तो राज्यवर्धन की मृत्यु से थानेश्वर की राजगद्दी खाली हो गई। ऐसी विकट स्थिति में जब चारों के आधीन राजा स्वतंत्र होने की कोशिश कर रहे थे, और थानेश्वर के राज्य का अन्त करने पर तुले हुए थे यह आवश्यक था कि राज्य की बागडोर किसी अनुभवी और दृढ़ आदमी के हाथ में हो। राज्यवर्धन के कदाचित् कोई लड़का नहीं था। इसीसे मंत्रियों ने सेनापति सिंहनाद की अध्यक्षता में हर्ष को ही राजा बनाने की घोषणा कर दी। हर्ष ने यह पद बहुत आनाकानी करने के बाद स्वीकार किया। अपने सिंहासन पर बैठने की यादगार में हर्ष ने इसी साल (सम्वत् ६६३ वि०) से एक नया सम्वत् चलाया।

गद्दी पर बैठते समय हर्ष ने प्रतिज्ञा की जब तक मैं अपने भाई की हत्या और बहन के साथ दुर्व्यवहार का बदला न ले लूँगा तब तक चैन न लूँगा। कहा जा चुका है कि राज्यश्री कान्यकुब्ज (वर्तमान कन्नौज) के कारागार से छूटते ही विन्ध्याचल की ओर कहीं चली गई थीं। अस्तु, इस समय हर्ष के सामने दो मुख्य काम थे, एक तो था शशाङ्क को दण्ड देना, और दूसरा राज्यश्री का पता लगाना। इस दूसरे काम पर उन्होंने पहले हाथ लगाया। विन्ध्याचल की जंगली जाति के सामंत 'व्याघ्रकेतु' की सहायता से उनकी शबर जाति के प्रधान 'निर्घात्' से भेट हुई। उसकी मदद से विंध्याटवी में हर्ष ने राज्यश्री को उस समय पाया जब वह अपनी सखियों के साथ जल मरने का प्रबंध कर रही थीं।

राज्यश्री को घर पहुँचाने के बाद हर्ष ने अपने शत्रु शशाङ्क को दण्ड देने की ओर मुँह फेरा। इस कार्य के लिए तैयारी की गई। जब सेना रास्ते में थी उसी बीच कामरूप (आसाम) के कुमार राजा भास्कर वर्मा का दूत मिला। उसने सूचना दी कि भास्कर आपकी सहायता के लिए तैयार है। इस मैत्री से कर्ण सुवर्ण का जीतना बहुत सुगम हो गया, क्योंकि कामरूप उसकी पूर्वी सीमा पर उससे मिला हुआ था। इसी समय हर्ष के डेरे में क़ैदी और लूट का माल लिए भण्डि आया। यह राज्यवर्धन के साथ मालवा की चढ़ाई में गया था। अतः गौड़राज शशाङ्क ने हर्ष की आधीनता स्वीकार की। कुछ दिनों बाद शशाङ्क ने फिर से विद्रोह किया। परंतु अंत में उसका राज्य हर्ष ने अपने साम्राज्य में मिला लिया।

अब हर्ष ने दिग्विजय करने का विचार किया। इस दिग्विजय में कुल मिला कर ३६ वर्ष लगे। उसने नैपाल भी जीता। यद्यपि इस बात के मानने में ऐतिहासिकों में एक मत नहीं है, फिर भी अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि नैपाल में हर्ष-सम्वत् के प्रयुक्त होने के कारण वहाँ उसकी प्रभुता अवश्य स्वीकार की गई थी।

ऐसा जान पड़ता है कि इसी नैपाल विजय के बाद ही हर्ष अपनी राजधानी थानेश्वर से हटा कर कान्यकुब्ज (कन्नौज) में आए। उस समय कान्यकुब्ज भारत के बहुत प्रसिद्ध शहरों में से था। हर्ष की राजधानी होते ही इसकी शान मौर्यों के पाटलीपुत्र और गुप्तों के उज्जैन के जोड़ की हो गई होगी। यह ह्यून चांग नामक प्रसिद्ध चीनी यात्री के लिखे वर्णनों से

प्रतीत होता है। कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी बनाकर हर्ष ने अपना योग्य शासक होना सिद्ध किया है।

किन्तु उत्तरीभारत का 'परमेश्वर' होकर ही हर्ष सन्तुष्ट नहीं हुआ। समुद्रगुप्त की भांति वह सम्पूर्ण भारतवर्ष का सम्राट् होना चाहता था। इसलिए उसने दक्षिण की ओर सेना लेकर चढ़ाई की। किन्तु उसके भाग्य में अखिल भारत का शासक होना नहीं बदा था। नर्मदा तट पर पहुंचने पर उसे चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय की अपराजेय सेना खड़ी मिली। उसे हराना ज़रा टेढ़ी खीर थी। उलटे हर्ष को ही इस वीर राजा के हाथ मुँहकी खानी पड़ी। यह घटना सन् ६३६ ई० की जान पड़ती है।

इस हार के बाद हर्ष ने शांति पूर्वक जीवन बिताया। सम्पूर्ण आर्यावर्त ने उसे अपना अधीश्वर और स्वामी स्वीकार किया और देश में शांति और सुशासन का दौर दौरा रहा। सन् ६४१ में हर्ष ने चीन सम्राट् से मैत्री की।

इसके बाद के हर्ष के जीवन का वर्णन उस समय के ग्रंथों में प्रायः नहीं मिलता। बाण और ह्यून सांग दोनों इस विषय में चुप हैं। किन्तु इतना अवश्य पता चलता है कि उनके धार्मिक विचारों में इस बीच बहुत परिवर्तन हुए। इसका कारण उस पर ह्युन सांग का धार्मिक प्रभाव जान पड़ता है। उसने एक धार्मिक समारोह किया जिसमें शामिल होने के लिए उसके सभी आधीन राजा निमंत्रित हुए थे। इस उत्सव में यद्यपि प्रधानतया भगवान् बुद्ध की मूर्ति का प्रतिष्ठा की गई थी, किन्तु वैदिक धर्म के मुख्य देवताओं का भी यथोचित सम्मान किया गया था।

इस वृहत सम्मेलन में कुछ धर्मान्ध ब्राह्मणों ने हर्ष के मार डालने का षडयंत्र किया। क्योंकि उसकी बौद्धधर्म के प्रति सहानुभूति और श्रमणों के साथ सद्व्यवहार के कारण वे लोग उससे ईर्ष्या करने लगे थे। किन्तु इस कार्य में उन्हें सफलता न मिली।

इसके अनन्तर संवत् ७०४ में हर्ष की मृत्यु हुई। किसी रोग से अथवा अन्य किस प्रकार उसका प्राणान्त हुआ—इसका पता नहीं चलता। उसने ४२ वर्ष तक राज्य किया। इस समय उसके राज्य विस्तार पूर्व में कामरूप से पश्चिम में काश्मीर तक और उत्तर हिमालय से दक्षिण में विन्ध्याचल तक था। नैपाल के राजा ने उसे अपना सम्राट् मान लिया था और दक्षिण का वल्लभी-नरेश, ध्रवसेन, उसका दामाद और आधीनवर्ती था। अन्तिम दिनों में हर्ष शान्ति-प्रिय हो गया था, किन्तु इस शांति की आधार शिला एक बड़ी और योग्य सेना पर स्थित थी। अपने हराने वाले पुलकेशिन द्वितीय के संवत् ६९९ के लगभग मर जाने पर भी हर्ष ने उसके राज्य पर अधिकार करने के लिए चढ़ाई नहीं की—इससे उसकी शांति प्रियता का पूरा पता चलता है। इतना शांति चाहने वाला होने पर भी मरते दम तक उसने अपने स्थापित किए हुए विशाल साम्राज्य पर अपना अविचलित अधिकार रखा।

यह तो हुई हर्ष के जीवन की घटनाओं की एक झलक। अब थोड़ा उसके राज्य प्रबन्ध, विद्या प्रचार, धर्म कार्य आदि पर भी एक नज़र डाल लेना चाहिए। हर्ष की शासन व्यवस्था हिन्दू नीतिकारों के बताए हुए ढंग पर थी। वह लगातार अपने विस्तृत साम्राज्य में इस विचार से दौरा किया करता था कि

अपनी प्रजा के कष्टों को जानकर उनके दूर करने का उपाय कर सके। यद्यपि शासन का कार्य राज्य समिति के सिपुर्द था तथापि आवश्यक मामलों की देख रेख स्वयं वही करता था। ह्वेन चाँग लिखता है कि हर्ष का शासन बहुत उदार था। आधीनवर्ती राजाओं को पूरी स्वतंत्रता थी, केवल सालाना राज्य-कर देना पड़ता था और उत्सवों के अवसर उनमें शामिल होना होता था। प्रजा से हल्का कर लिया जाता था। राज्य की मुख्य आमदनी का साधन ज़मीन की मालगुज़ारी था। किसानों को पैदावार का छठा हिस्सा कर के रूप में देना पड़ता था। राज्यकोष का धन चार मुख्य कामों में खर्च होता था, कर्मचारियों के वेतन, विद्वानों के आदर-सत्कार, धर्म-कार्य और राज्य के अन्य ख़र्चों में।

पुलिस का इन्तजाम भी ठीक था। हत्या, डकैती, चोरी आदि अपराध बहुत नहीं होते थे। किन्तु सड़कों की दशा वैसी सुरक्षित नहीं थी जैसी दो सौ वर्ष पहले फाहियान देख गया था। दण्ड बहुत कड़े दिए जाते थे। भयङ्कर अपराधों के लिए अंग भंग किए जाते थे, देश निकाला भी होता था।

यद्यपि जीवन के अन्तिम दिनों में हर्ष पर बुद्ध के शान्तिमय धर्म का अधिक प्रभाव था, किन्तु उसके पास एक बहुत बड़ी और पूर्ण रूप से सुसज्जित सेना थी। ह्वेन साँग लिखता है कि इस सेना में ५,००० हाथी, २०,००० घुड़ सवार और ५०,००० पैदल थे। यह तो स्पष्ट ही है कि इतनी बड़ी सेना के लिए प्रबन्ध-पटुता अनिवार्य थी; और चूंकि इस की सहायता से हर्ष ने तमाम उत्तरी भारत जीता था, इसलिये हम यह समझ सकते हैं कि उसने इसे कितनी अच्छी दशा में रखा

होगा। हर्ष की सेना की विशेषता उसकी थोड़ी संख्या है। इससे उसकी शांति प्रियता और शासन की योग्यता का पता चलता है। उसके जीवन के आख़िरी दश वर्ष शांति में बीते थे, न तो देश के भीतर कोई बलवा हुआ था, और न किसी बाहिरी शत्रु का हमला ही, इससे यह सिद्ध होता है कि उसकी सेना प्रभावशालिनी और शक्ति मयी थी।

हर्ष के शासन की एक दूसरी विशेषता थी। उसकी धार्मिक उदारता। हर्ष के पूर्व-पुरुष महेश्वर, आदित्य और अन्य हिन्दू देवताओं के उपासक थे; और उसने बौद्धधर्म अंगीकार कर लेने पर भी अपने पुरुषाओं के धर्म का पूर्णतः त्याग नहीं कर दिया था। राज्य-शासन में धार्मिक विभिन्नता का ज़रा भी ख्याल नहीं किया जाता था। बाण जैसे धर्मनिष्ठ ब्राह्मण का उतना ही सम्मान था जितना बौद्ध भिक्षु चीनी यात्री ह्वेन सांग का।

इस सम्राट् की पवित्रता और उदारता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रयाग के प्रसिद्ध पंच वार्षिक मेले में हर्ष अपने ख़ज़ाने का सारा धन ग़रीबों को बांट देता था। इस दान-दक्षिणा में भी धार्मिक अनुदारता का लेश न था। पहले मेले में पहले दिन १०,००० बौद्ध साधुओं को भोजन कराया गया। फिर दक्षिणा के तौर पर हरेक को १०० निष्क (सिका-विशेष), एक मोती, एक सूती वस्त्र, पुष्प और सुगंधित द्रव्य दिए गए। फिर बीस दिनों तक ब्राह्मणों की बारी रही। तत्पश्चात् दस दिनों तक जैन तथा अन्य धर्म के साधुओं को दान मिलता रहा। अन्त में एक महीने तक अनाथ, रोगी, आपाहिज और ग़रीब गृहस्थों को भीख मिलती रही। इस के बाद

राज्य कोष का पूराधन ही नहीं हर्ष की निजी सम्पत्ति भी बांट दी गई। और हर्ष के पास कुछ भी न रह गया। ऐसा सर्वस्व त्याग बहुत कम देखा जाता है।

सुशासक, धार्मिक, उदार और त्यागी हर्ष स्वयं विद्वान् ही नहीं विद्वानों का गुण ग्राहक भी था। उसकी विद्वता के प्रमाण स्वरूप संस्कृत साहित्य के तीन प्रसिद्ध नाटक—नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका—पेश किए जा सकते हैं। इन नाटकों का साहित्यकों की दृष्टि में बहुत सम्मान है। हर्ष गान विद्या का प्रेमी और अच्छा दार्शनिक भी था। कादम्बरी जैसे अद्वितीय ग्रंथ का लेखक बाण हर्ष का राजकवि था—इससे उसकी विद्वानों की क़द्रदानी सूचित होती है।

हर्ष के समय में शिक्षा का बहुत प्रचार था—यह ह्यूएनसांग के लेखों से ज्ञात होता है। उस समय के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के नाम हम इस सुदूर काल में भी जानते हैं। तक्षशिला वैद्यक की शिक्षा और उज्जैन ज्योतिषि के लिए बहुत प्रसिद्ध था। काशी सब शास्त्रों का विद्याकेन्द्र था। इन सब से अधिक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्द था। ह्यूएनसांग ने भी इस विद्यापीठ में शिक्षा प्राप्त की थी। उसने इसका विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है कि "इसमें शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या कई हज़ार है। वे लोग अत्यन्त योग्य और बुद्धिमान हैं। उनकी योग्यता आजकल बहुत बढ़ी चढ़ी है। इनमें कई सौ ऐसे भी हैं जिनकी ख्याति दूर देशों में भी फैली हुई है। उनका आचरण शुद्ध निर्दोष है। वे नैतिक नियमों का पालन सचाई के साथ करते हैं। इस मठ के नियम कड़े हैं और उन्हें व्यवहार में लाने के लिए सब भिक्षुबाध्य

हैं।……प्रश्नों के पूछने और उत्तर पाने के लिए दिन काफ़ी नहीं होता। सवेरे से रात तक वे लोग वादविवाद में लगे रहते हैं—बुड्ढे और जवान एक-दूसरे को मदद करते हैं। वादविवाद में प्रसिद्धि चाहने वाले विद्वान भिन्न भिन्न नगरों से अपने सन्देह दूर करने आते हैं और फिर उनकी विद्वता की धाक दूर देशों में फैल जाती है। इस कारण कुछ लोग अपने को ज़बरदस्ती नालन्द का विद्यार्थी कहने लगते हैं और परिणाम यह होता है कि उनका सर्वत्र सम्मान होता है। यहाँ दाख़िल होने के पहले हरएक को प्राचीन और नवीन ग्रंथ अच्छी तरह अध्ययन कर लेना होता है। इससे जो विद्यार्थी यहां अजनबी की भांति आते हैं उन्हें अपनी योग्यता कठिन वादविवाद के द्वारा दिखानी पड़ती है।"

बौद्ध संस्था होने पर भी इस विश्वविद्यालय में शिक्षा धार्मिक पक्षपात से पूर्ण नहीं होती थी। इसमें पढ़ाए जाने वाले विषयों में वेद, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित और वैद्यक भी थे। बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायों की शिक्षा दी जाती थी, और ब्राह्मण धर्म की शिक्षा की अवहेलना नहीं होती थी। निःसन्देह नालन्द संसार का एक सर्वश्रेष्ठ विद्यापीठ था।

हर्ष के राज्यकाल में चित्र कला और वास्तुकला दोनों में बहुत उन्नति हुई थी यह अजंता की गुफाओं में पाए जाने वाले भित्ति-चित्रों से स्पष्ट होता है, जो तत्कालीन पुल केशिन के समय में बने थे। इसी समय नरसिंह पल्लव ने महामल्लपुरम् के मन्दिर निर्माण कराये थे।

इस वर्णन से विदित होता है कि सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारतीय सभ्यता की उन्नति का उच्चतम शिखर था।

हर्ष में सम्राटोचित सब गुण थे। वह शूर था, धैर्यवान था, पराक्रमी था, विद्वान था, गुण ग्राहक था। प्रजावत्सल और सुशासक भी था। हिन्दुओं में अन्तिम सम्राट् हर्ष ही था। पृथीराज सांगा, प्रताप आदि पराक्रमी और शूर-श्रेष्ठ थे, पर सम्राट् की उपाधि इनके नाम के साथ नहीं जोड़ी जा सकती। ईश्वर करे हमें फिर हर्ष के दिन शीघ्र देखने को मिलें।

सम्राट् शेरशाह

छ विचारशील विद्वान् कहते हैं कि अकबर के बहुत से राजनीतिक सुधारों का वास्तविक श्रेय उसको न मिलना चाहिए। इस देश में उन्हें आरम्भ करने वाला एक दूसरा ही व्यक्ति था। अकबर के प्रखर प्रताप-सूर्य के सामने उसका प्रकाश मन्द-सा पड़ गया है। इसी से अकबर को बहुत-से राज्य-सम्बन्धी कार्यों का अनुचित यश मिल जाता है। ऐसा करके इतिहास लेखकों ने उस महान् पुरुष के साथ अन्याय किया है। उस व्यक्ति की कीर्ति लुप्त प्राय हो जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि उसकी असामयिक मृत्यु के थोड़े दिन पश्चात् ही उसके वंश का नामोनिशान इस देश से मिट गया और उसके स्थान में एक ऐसा राजवंश यहां का अधिपति हुआ जिसने भावी तीन सौ वर्षों तक राज्य किया। इसके ऐश्वर्य के सम्मुख उस प्रतिभा सम्पन्न पुरुष के चरित्र पर एक भारी आवरण पड़ गया। किन्तु पिछले कुछ दिनों से भारतीय इतिहास में से ऐसे रत्नों को खोज निकालने का प्रयत्न आरम्भ होगया है जो यत्र-तत्र मिट्टी में छिपे हुए से हैं। इसी अन्वेषण में उस हीरे का भी पता चल गया है जिसके विषय में ऊपर संकेत किया गया है।

उसका नाम शेरशाह है। उसके विषय में हमारा उक्त कथन कहां तक उचित है—यह नीचे की पंक्तियाँ स्पष्ट कर देंगी।

इतिहास में शेरशाह नाम से प्रख्यात इस व्यक्ति का वास्तविक नाम फ़रीद था। यह हसन का पुत्र था। ये लोग पठानों की 'मती' नामक शाखा के सूर कबीले (परिवार) में पैदा हुए थे। हसन खां का पिता इब्राहीम अफ़गानिस्तान में तख्तए-सुलेमान, पहाड़ की 'सरगारी' नामक शाखा पर, गोमाल नदी के किनारे रहता था। 'फ़रिश्ता' की भूल का अंध समर्थन करके 'एलफिस्टन' लिखता है कि इब्राहीम का 'ग़ोर' के राजवंश से सम्बन्ध था। यह भूल है। ग़ैर-अफ़गान 'ग़ोर' के बादशाहों से सम्बन्ध जोड़ कर इब्राहीम क्या कोई भी अफ़गान गर्व नहीं कर सकता था। अपने बनाए हुए 'अकबर नामा में लिखता है कि "इब्राहीम घोड़ों का व्यापारी था। व्यापारियों के समुदाय में उसकी कोई विशेषता भी नहीं थी"। 'खुलसतुत्तगारीख़' नामक फ़ारसी का प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ भी इस बात का समर्थन इन शब्दों में करता है, "इब्राहीम जद्द-ए-फ़रीद यानी शेरशाह सादगरी-ए-अस्यां मी कर्द।" अस्तु गोमाल का दर्रा दक्षिणी अफ़गानिस्तान और सिन्ध की तराई के मध्य बहुत प्राचीन अधिक चलता हुआ व्यापारिक मार्ग था। व्यापार के लिए इस सुविधा के होने पर भी भाग्य ने इब्राहीम का साथ न दिया। रोज़गार में घाटा रहा। निदान सुलतान बहलोल लोदी के राज्यकाल (१४५१ से १४८८ ई० तक) के उत्तरार्ध में वह विवश होकर बालक हसन को साथ ले सिपाही की नौकरी तलाश करने हिन्दुस्तान के लिए चल पड़ा। वह जलन्धर-दोआबे में बजवाड़ा नामक स्थान में पहुँचा। वहाँ

सूर कबीले की सबसे प्राचीन 'दाऊद ख़ां खईल' की शाखा की जागीर में थी। उसी जागीर के तत्कालीन स्वामी मुहब्बत ख़ां सूर ने इब्राहीम को अपने यहां रख लिया। कुछ समय तक वहां रह चुकने पर उसने दिल्ली प्रान्तस्थ 'हिसार फ़िरोज़ा' के जमाल ख़ां सरंगखानी की नौकरी कर ली।

फ़िरोज़ तुग़लक के बसाए हुए इसी हिसार फ़िरोज़ा में 'मख़ज़न-ए-अफग़ान' नामक ग्रन्थ के अनुसार हसन का पहला पुत्र फरीद उत्पन्न हुआ। फ़रीद कब पैदा हुआ यह उस समय के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

अब्बास सरवानी नामक एक प्राचीन फ़ारसी का लेखक कहता है कि वह सुलतान बहलोल के जीवन काल में ही जन्म ले चुका था। बहलोल १४८८ में मरा था। इस आधार पर फ़रीद का जन्म सन् १४८५ के आस पास होना अनुमान किया जाता है। अन्य प्रमाणों के अभाव में यही तिथि इस समय मान्य है। अन्त में इब्राहीम का परिवार 'नारनोल' नामक क़स्बे में बस गया। वहाँ पर उसे चालीस घुड़सवारों के भरण-पोषण के लिए कई गाँवों की जागीर मिली। थोड़े ही दिनों के बाद इब्राहीम मर गया। हसन अपने पिता की जागीर का अधिकारी हुआ। अनुमान है कि वह 'नारनोल' में बहुत दिनों तक रहा होगा क्योंकि 'मख़ज़न-ए-अफग़ान' में उसे 'नारनोल' का निवासी लिखा है।

फ़रीद का बाल्य काल अपने प्रति पिता की उदासीनता और सौतेली माँ के निर्दय व्यवहारों में बीता। उसकी माँ हसन की सबसे पहली स्त्री थी! उससे फ़रीद के अतिरिक्त एक और पुत्र हुआ था। उसका नाम निज़ाम था। हसन कुछ

दिनों बाद अपनी सब से छोटी स्त्री को जो पहले उसके महल में परिचारिका रह चुकी थी, बहुत चाहने लगा था। इस स्त्री से सुलेमान और अहमद नामक दो पुत्र भी हसन के हुए। यह निश्चय था कि हसन सबसे पहली स्त्री से उत्पन्न फ़रीद ही उसका उत्तराधिकारी था। इससे हसन की चहेती सबसे छोटी स्त्री का फ़रीद और निज़ाम की माँ से जलना स्वाभाविक था। क्योंकि उसके पुत्रों के जागीर मिलने के रास्ते में वही रोड़ा थी। इसलिए वह फ़रीद की माँ को बहुत परेशान किया करती थी। हसन उसकी मुट्ठी में था ही। वह भी अपनी बड़ी स्त्री की परवा न करने लगा। इस अवहेलना का दूसरा कारण यह समझ पड़ता है कि फ़रीद की माँ का पहले का सा सौन्दर्य उन दिनों न रह गया होगा। निदान अब्बास सरवानी के शब्दों में हसन ने 'फ़रीद और निज़ाम की माँ से किसी प्रकार का प्रेम-सम्बन्ध न रखा और न वह उसके प्रति किसी प्रकार की कृपा ही प्रदर्शित करता।' परित्यक्ता माँ के बेटे होने के फल स्वरूप फ़रीद और निज़ाम को अपने अन्य सौतेले भाइयों के मुक़ाबले में पिता का प्रेम और अनुग्रह न के बराबर मिल सका। एक समान अवहेलित फ़रीद और निज़ाम लड़कपन से ही एक-दूसरे से अत्यन्त स्नेह करने और आदर्श बन्धुओं की भाँति बढ़ने लगे।

वैयक्तिक जीवन में इन दुर्बलताओं से युक्त होते हुए भी हसन अत्यन्त योग्य कर्मचारी था। उसका स्वामी जमाल ख़ाँ सरंगख़ानी उसके कार्यों और गुणों से बहुत सन्तुष्ट रहता था। उस पर जमाल की विशेष कृपा थी। कुछ दिनों बाद 'फ़िरोज हिसार' से जमाल ख़ाँ का तबादला जौनपुर को हो गया।

उसे वहाँ की सूबेदारी मिली। वहाँ से जाते समय जमाल अपने कृपापात्र हसन को भी साथ लेता गया। नवीन पद ग्रहण कर चुकने पर उसने रोहतास गढ़ के समीपवर्ती 'सहसराम' और ख़वासपुर' के इलाक़े हसन को पाँच सौ सिपाही रखने के लिए जागीर में दिए। इस प्रकार हसन का पद, सम्मान, और आनन्द तो पहले से बढ़ गया, परन्तु फ़रीद, निज़ाम और उनकी माँ का भाग्य न पलटा। फ़रीद में अब कुछ समझने की शक्ति भी आयु बढ़ने के साथ बढ़ चली थी। उसे अपने पिता के तिरस्कार से दुःख मालूम होने लगा। अब्बास सरवानी लिखता है कि कभी-कभी बाप-बेटे में तू-तू, मैं-मैं तक की नौबत आ जाती थी। जब हसन ने अपने परिवार वालों के भरण पोषण के लिए अपनी जागीर का बटवारा किया तब उसने फ़रीद की माँ के साथ न्याय न किया। इस दुर्व्यवस्था से रुष्ट होकर फ़रीद वहाँ से जमाल ख़ाँ के पास चला गया। इस समय उसकी उम्र सम्भवतः पंद्रह साल की थी।

मियाँ हसन को यह हाल मालूम हुआ। उसने अपने स्वामी को पत्र लिखा कि, 'फ़रीद नाहक़ नाराज़ होकर घर से चला गया है। मैं उसको धार्मिक शिक्षा के साथ ही शिष्टाचार एवं शाही दरबारों में व्यवहार करने के नियमादि की शिक्षा देना चाहता हूँ। इसलिए आप कृपया उसे यहाँ भेज दीजिए।' जमाल ख़ाँ ने घर लौट जाने के लिए फ़रीद पर बहुत दबाव डाला। मगर उसने ऐसा करने से साफ़-साफ़ इन्कार कर दिया, और बोला कि, "यदि मेरा पिता मुझे पढ़ाना ही चाहता है तो जौनपुर निश्चय रूप से सहसराम से बढ़िया स्थान है। मैं यहीं रहकर पढ़ूँगा।" बालक फ़रीद की यह

युक्ति जमाल ख़ाँ ने मान ली। उसने फिर फ़रीद को जौनपुर से जाने के लिए नहीं कहा। बड़े परिश्रम से फ़रीद लिखना-पढ़ना सीखने लगा। उसने अरबी पढ़ी और उस भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण 'कुफ़िया' कण्ठस्थ कर लिया। फ़ारसी के प्रसिद्ध ग्रंथ, गुलिस्ताँ, बोस्ताँ और सिकन्दर नाम भी उसे याद हो गए थे। उसे प्राचीन राजाओं के चरित्र सम्बन्धी ग्रंथ बहुत प्रिय थे। उसने जो कुछ पढ़ा अच्छी तरह से मस्तिष्क में जमा लिया था। यह उसके सुलतान होने की कुछ घटनाओं से विदित होता है। उस समय जब कोई मुख़ादिम (अध्यापक) उसके पास आर्थिक सहायता माँगने आता था तब वह उनसे 'हाशिया-ए-हिन्दिया' नामक प्रसिद्ध फ़ारसी ग्रंथ के विषयों पर प्रश्न पूछकर उनकी योग्यता की परीक्षा करके उनको यथोचित सहायता दिया करता था। उन दिनों जौनपुर दिल्ली के राज्य के पूर्वीय सूबों का शासन केन्द्र होने के कारण राज्य कार्यों का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत उपयुक्त स्थान था। प्रतिभाशाली फ़रीद केवल पुस्तकों का कीड़ा न था। वह जौनपुर के सूबेदार जमाल ख़ाँ तथा राज्य के अन्य कर्मचारियों का अपने गुणों के कारण प्रेमपात्र बन गया था। उनके संसर्ग में नित्य रहने से फ़रीद को मालगुजारी सम्बन्धी मामलों, कृषकों की दुर्दशा, उनपर किए जाने वाले मुसलमान सिपाहियों एवं मालगुजारी वसूल करने वाले राज्य के नौकरों के अत्याचार आदि अपनी आँखों से देखने का मौक़ा मिला करता था। जमाल ख़ाँ ने उसकी योग्यता देखकर फ़रीद ख़ाँ को शासन-सम्बन्धी कार्यों के लिए तैयार किया। अपने निजी उद्योग और परिश्रम से अपने पिता का परित्यक्त फ़रीद एक

योग्य और होनहार नवयुवक जान पड़ने लगा। जिस किसी से उसका संपर्क हुआ वह उससे प्रेम करता था। जौनपुर में जितने बिरादरी के लोग थे सब उसे चाहते थे। इस प्रकार कोई नौ-दस साल फ़रीद ने जौनपुर में बिताए।

इसी बीच हुसेन ख़ाँ अपने स्वामी जमाल ख़ाँ से मिलने जौनपुर आया। उसके मित्रों और नातेदारों ने एक दासी के चक्कर में आकर फ़रीद जैसे होनहार पुत्र को घर से निकाल देने पर उसको बहुत बुरा-भला कहा। अब्बास सरवानी के शब्दों में वे बोले कि, 'बालक होते हुए भी फ़रीद में भावी महत्ता के आसार हैं। उसके ललाट पर बहुत अच्छे चिह्न हैं। सम्पूर्ण 'सूर' वंश में उसके समान विद्वान्, योग्य, बुद्धिमान और दूरदर्शी दूसरा कोई नहीं है। वह अब भली भाँति इस योग्य हो गया है कि यदि तुम उसकी निगरानी में कोई परगना दे दोगे तो वह अवश्य बहुत अच्छी तरह और पूर्ण रूप से अपने कर्तव्यों का पालन करेगा।" जवानी ढल जाने के कारण हसन के ऊपर उसकी चहेती स्त्री का अधिकार अब कम हो चला था। इसलिए अपने हितैषियों की उपर्युक्त बातें सुनकर उसने फ़रीद को अपनी जागीर का शासनाधिकार सौंप देने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। अपने पिता का अनिश्चित और विमाता का उस पर प्रभाव सोचकर फ़रीद ने पहले वह भार उठाना अस्वीकार किया। परन्तु अपने शुभेच्छुकों के ज़ोर देने पर वह अन्त में राजी हो गया। हसन ने उसे कुछ दिन तक अपने पास रखा। कुछ दिनों बाद हसन ने उससे सहसराम चलने को कहा। फ़रीद ने उसे अपना पुस्तकों के अध्ययन एवं सांसारिक

अनुभव से प्राप्त शासन सम्बन्धी ज्ञान बतलाकर कहा कि यदि मुझे हुकूमत की पूरी शक्ति और पूरी आज़ादी न मिलेगी तो मैं सहसराम जाना पसन्द न करूँगा। यह अधिकार फ़रीद ने इसलिये चाहे थे कि वह अपनी पिता की जागीर में रहने वाले किसानों पर किये जाने वाले सब अत्याचार दूर करना चाहता था। और यह बिना शासन का पूर्ण दायित्व मिले नहीं किया जा सकता था। हसन ने उसकी बात मान ली।

इस प्रकार राज्य करने के लिये आवश्यक अधिकार सम्पन्न फ़रीद प्रायः पच्चीस वर्ष की आयु में (१५११ ई० के आसपास) अपने पिता के साथ रवाना हुआ। उस दिल्ली के सिंहासन पर सिकन्दर लोदी विराजता था। फ़रीद फिर उसी सहसराम में पहुँचा जहाँ से कोई दस साल पहले वह भाग निकला था। परन्तु उसकी तब और अब की दशा एक सी न थी। पहले उसको जागीर में कोई बात तक न पूछता था, और अब वही जागीर का हाकिम था। पहले वह निरा गँवार था और अब पढ़ा-लिखा और राजकार्य में दक्ष था। जागीर में पहुँच कर उसने देखा कि उसकी हिन्दू प्रजा पर उसके पिता के मुसलमान सैनिकों के ज़ुल्मों की भरमार थी। बेचारे किसानों के दुखड़े कोई सुनता न था। दूसरे जागीर में लगान वसूल करने वाले कारिन्दों और पटवारियों ने भी अंधेर मचा रखी थी। प्रजा जिसमें अधिकतर खेती करने वाले ही थे, अत्याचारों से ऊब गई थी। कुछ लोग तो अँधेर नगरी में अबूझ राजा का राज्य समझ कर अपना उल्लू सीधा करने लग गये थे। लूटमार मची हुई थी। फलतः जागीर के बहुत

थोड़े हिस्से में नियमित रूप से खेती हो सकती थी। अधिकांश भूमि परती पड़ी थी। यह दशा देखकर फ़रीद को किसानों के हाल पर तर्स आया। वह समझता था कि किसी भी राज्य के धन का एकमात्र सहारा खेती है, और किसान सम्पत्ति के साधन हैं इसलिये उसने किसानों को उन प्रचलित अत्याचारों से उबारने का निश्चय किया। जागीर में पहुँचकर उसने तमाम सैनिकों, कारिन्दों, पटवारियों और किसानों को बुलाया। सैनिकों से उसने कहा कि हसन ने उसको उन लोगों के नौकरी से अलग करने एवं दण्ड देने का पूरा अधिकार दे दिया है। इससे भविष्य में उसको किसानों के प्रति अपने पहले के अत्याचार न दुहराने चाहिये। फिर उसने किसानों में से कुछ लोगों से उनकी इच्छानुसार नक़द रुपया और कुछ से पैदावार का एक हिस्सा लगान जमीन पैमायश करके तय कर दिया। लगान वसूल करने वालों की तनख्वाह निश्चित करके उनके लिये बेईमानी की गुंजायश न रहने दी। किसानों और जागीरदार का सीधा सम्बन्ध करने के लिए उसने अपने सामने लगान लिये जाने की आज्ञा दे दी। तदनन्तर उसने किसानों को अपने कष्ट से सीधे उसी से बेरोक-टोक कहने की आज्ञा दी और उनसे अपनी सारी शक्ति खेती की उन्नति करने में लगाने को कहा।

जागीर की भीतरी दशा का इस तरह सुधार कर चुकने पर फ़रीद ख़ाँ ने बाग़ी ज़मींदारों और सरदारों को ठीक करने का निश्चय किया। इस काम के लिये उसने सैनिक एकत्रित करने का हुक्म दिया। उच्च पदाधिकारियों ने मियां हसन के जौनपुर से लौटने तक ठहरने को कहा। हरन्तु फ़रीद कब

मानने वाला था। उसने एलान् कर दिया कि सैनिक जो माल असबाब लूट में पावेंगे वह सब उनका होगा, और ख़ास कार-गुज़ारी करने वालों को जागीर इनाम में दी जायगी। यह सुनकर बहुत से लोग उसकी सेना में भरती होने लगे। फिर उसने अपने किसानों से घोड़े उधार माँगे। नये सैनिकों को कपड़े और रुपये देकर उसने अपना भक्त बना लिया। बहुत थोड़े परिश्रम से अच्छी सेना तैयार हो गई। पहले-पहल फ़रीद ने उन मुक़द्दमों (कारिन्दों) पर हमला किया जिन्होंने बहुत दिनों से वसूल किया हुआ लगान जागीरदार को नहीं दिया था। उन्होंने सारा बक़ाया चुका दिया और भविष्य में अच्छा व्यवहार करने का वचन दिया। विद्रोही ज़मींदारों का दमन करना इतना सहज न था। इसलिये उसने अपनी सारी रियाया में से आधे लोगोंकी एक दूसरी पैदल और सवार सेना तैयार की। जमींदारों के गाँव चारों ओर से घेर लिये गये। भाग निकलने का मार्ग न पाकर उन्होंने भी विवश हो फ़रीद ख़ाँ की अधीनता मान ली और बहुत सा धन देने का वादा किया। परन्तु उनकी बातों पर विश्वास न करके भविष्य के उत्पातों से बचने के अभिप्राय से उसने सबका अंत करना ही उचित समझा। इस तरह सारे बाग़ी ज़मीदार दुरुस्त हो गये।

हसन की जागीर फ़रीद के इन कार्यों से बढ़ गई। वह अपने मालगुजारी वसूल करने के ढंग की जाँच भी इन उद्योगों के साथ करता जाता था। उसे सर्वत्र किसानों के दुःख और मुक़द्दमों के अत्याचार दूर होते दिखाई पड़ते थे। इससे अपनी नीति पर उसका विश्वास और दृढ़ होता गया। थोड़े दिनों में

जागीर धन-सम्पत्ति से पूर्ण हो गई। सैनिक और किसान सब उसके व्यवहार से सन्तुष्ट थे। फ़रीद की प्रसिद्धि देश भर में फैल गई। इन कार्यों से उसकी सौतेली माँ के अतिरिक्त सब लोग प्रसन्न हुये। कुछ दिनों बाद हसन जौनपुर से लौटा। फ़रीद के काम और जागीर की समृद्धि देखकर उसे परम सन्तोष हुआ। उसने फ़रीद को जागीर का प्रबन्ध करते रहने को कहा। परन्तु यह उसकी प्रेम ही, सुलेमान की माँ को अच्छा न लगा। उसने मज़बूर करके हसन से फ़रीद को अलग कर देने का वादा करवा लिया। हसन ने फ़रीद के हाथ से शासन की बागडोर छीन लेने के इरादे से उसकी भूलें खोजना आरम्भ किया। जब फ़रीद को यह पता चला कि हसन ने सुलेमान की माँ से उससे हुकूमत ले लेने का वादा कर दिया है तब उसने आप से आप जागीर का शासन करना त्याग दिया। फ़रीद अपने भाई निज़ाम को साथ लेकर दुबारा सहसराम से निकल खड़ा हुआ। यह सन् १५१८ के आसपास की बात है। समस्त प्रजा का प्रेम-पात्र और सम्पूर्ण जागीर एवं सेना का अधिकारी होने पर भी फ़रीद हँसते-हँसते जागीर का शासन करना छोड़कर नौकरी की तलाश में इस बार आगरा गया।

आगरा उन दिनों सुलतान इब्राहीम लोदी की राजधानी थी। फ़रीद ख़ाँ ने सुतलान के शक्तिशाली दरबारी दौलतख़ाँ की नौकरी कर ली। अपनी योग्यता से वह दौलतख़ाँ का कृपा-पात्र हो गया। कुछ ही दिनों में हसन की मृत्यु का समाचार मिला। दौलतख़ाँ ने सुलतान से फ़रीद को सहसराम की जागीरदारी का फ़रमान दिलवा दिया। १५२० में फ़रीद सह-

सराम पहुँचा सब लोग बहुत प्रसन्न हुये। सुलेमान ने वहाँ से भागकर चौंद परगने के शक्तिशाली सूबेदार मुहम्मद ख़ाँ सूर की शरण ली। मुहम्मद ने फ़रीद पर हमला करने की धमकी दी। इसी दर्मियान पूर्वीय प्रान्तों के कई सरदार विद्रोही हो गये। और अपने को स्वतंत्र सूबेदार घोषित कर दिया। कमज़ोर सुलतान के फ़रमान मात्र से अपने को, इस उथल-पुथल में मुहम्मद ख़ाँ से सुरक्षित न समझकर फ़रीद ने, १५२२ ई० में, सहसराम छोड़ दिया और 'बिहार-शरीफ़' के तत्कालीन स्वामी बहर ख़ाँ के यहाँ पनाह ली। उसके काम और चातुर्य पर बहर ख़ाँ मुग्ध हो गया। एक दिन फ़रीद ने पैदल ही एक शेर को मार डाला। इस असाधारण वीरता पर प्रसन्न होकर बहर ख़ाँ ने उसको शेर ख़ाँ की उपाधि दी। कुछ समय बाद बहर ख़ाँ ने शेर ख़ाँ को अपने पुत्र का शिक्षक और उसका 'नायब' नियुक्त किया। वहाँ भी शेर खाँ ने अपने मालगुज़ारी सम्बन्धी कामों से बड़ा नाम कमाया।

कुछ दिनों बाद मई सन् १५२६ ई० में बाबर ने पानीपत की पहली लड़ाई में इब्राहीम लोदी पर विजय पाई। इस बीच शेर ख़ाँ थोड़े दिनों में लौट कर आने का बचन देकर बहर ख़ाँ (जिसने अब सुलतान मुहम्मद नाम धारण कर लिया था) के यहाँ से चला गया। बहुत दिनों तक वापस न आने पर सुलतान ने रुष्ट होकर उसकी पैतृक जागीर छीन लेने के लिये उस पर हमला कर दिया। शेर ख़ाँ ने अपने भाई निज़ाम की सलाह से जौनपुर मुग़ल गवर्नर, सुलतान जुनैद का आश्रय लिया। तीन चार महीने के बाद (मार्च १५२७) सुलतान जुनैद बारलस बाबर से मिलने के लिये आगरा गया। शेर ख़ाँ

भी उसके साथ था। वहाँ शेर ख़ाँ बाबर की सेना में भरती हो गया। सन् १५२८ में बाबर ने पूर्व के सूबों पर हमला किया। शेर ख़ाँ को इनाम में उसकी पैतृक जागीर मिल गई। इसके बाद बाबर को पश्चिम की ओर राजपूतों का दमन करने आना पड़ा। फ़तेहपुर सीकरी और चंदेरी के युद्ध हुए। शेर ख़ाँ सम्भवतः चन्देरी की लड़ाई में बाबर के साथ था। इन्हीं दिनों अवध, बिहार आदि के विद्रोही सूबेदारों के दबाने के लिये फिर बाबर को पूरब आना पड़ा। शेर ख़ाँ ने उसे अच्छी मदद दी होगी। बहर ख़ाँ (सुलतान मुहम्मद) के नाबालिग़ लड़के जलाल ख़ाँ को बाबर ने बिहार की सूबेदारी दी। उसकी माँ हीराज का सारा काम-काज करती थी। १५२६ में उसने शेर ख़ाँ को अपनी मदद के लिये बुलाया और जलाल ख़ाँ को 'नायब' सूबेदार बनाया। और उसकी सहायता से राज्य कार्य्य करने लगी। थोड़े दिनों में वह मर गई। शेर ख़ाँ सूबेदारी का सारा काम करने लगा। उसकी इस शक्ति-वृद्धि से बहुत से सरदार उससे जलने लगे। शेर ख़ाँ ने भी एक मज़बूत दल संगठित कर लिया था। किसानों और सैनिकों का तो वह पहले से प्यारा था। इससे उसके विरोधियों की एक न चली। इस तरह चार साल में शेर ख़ाँ एक प्रकार से बिहार का स्वतन्त्र शासक बन गया। सेना उसके हाथ में थी। किसी में उसका हुक्म न मानने को ताब न थी। आठ सौ घुड़सवार हमेशा उसके हुक्म की प्रतीक्षा करते रहते। इन्हीं दिनों शेरख़ाँ ने चुनार के क़िले के गृह-कलह से लाभ उठाकर उस पर अधिकार कर लिया और उसके मृत क़िलेदार की विधवा 'लाड मलका' से, प्रायः चवालिस साल की उम्र (१५३०) में

शादी कर ली। विवाह के उपलक्ष में मलका ने उसको १५० बहुमूल्य हीरे, ७ मन मोती, १५० मन सोना और बहुत सी अन्य वस्तुएँ एवं आभूषण भेंट में दिये।

इन्हीं दिनों बाबर की मृत्यु हो गई। पूर्व में अफ़गान सूबेदारों ने विद्रोह कर दिया। हुमायूँ ने विद्रोहियों के नेताओं का युद्ध में अन्त कर दिया। फिर उसने चुनार पर नवम्बर १५३१ में आक्रमण किया। चार महीने तक वीरता पूर्वक सामना करने के बाद शेर ख़ाँ ने हुमायूँ से सुलह कर ली। इसी बीच बंगाल में गृह-युद्ध होने लगे। बिहार में इनका प्रभाव पड़ा। वहाँ शेर ख़ाँ के विरोधी पहले से थे ही। उन्होंने सूबेदार जलाल ख़ाँ को नायब शेर ख़ाँ के ख़िलाफ़ भड़काया। जलाल भी अपने नायब से स्वतन्त्र होना चाहता था। वह बंगाल के बादशाह से जा मिला। उसने शेर ख़ाँ के विरुद्ध एक बड़ी सेना भेजी। पास थोड़ी फ़ौज़ होने के कारण शेर ख़ाँ ने छिपकर युद्ध करने का निश्चय किया। चालाकी से उसने शत्रु पर जीत पाई। १५३४ की इस सूरजगढ़ की विजय से शेर ख़ाँ की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता पहले से अधिक हो गई। गंगा के दक्षिण स्थित चुनार से सूरजगढ़ तक का विस्तृत प्रान्त उसके अधिकार में आ गया। इस विजय के बाद शेर ख़ाँ ने अपनी निगरानी में विजित देश की सब प्रकार से उन्नति करने का काम प्रारम्भ कर दिया। प्रजा को कष्ट पहुँचाने वाला उसका निजी सम्बन्धी भी बिना दण्ड पाये उसके हाथ से न छूटता। थोड़े ही समय में सारे प्रान्त में उन्नति और शांति के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। फिर शेर ख़ाँ ने गुप्तरूप से सेना एकत्रित करना शुरू किया। यह सब काम इतनी साव-

धानी से किया गया कि पड़ोसी सूबेदारों को ज़रा भी खबर न हो पाई।

उधर शेर ख़ाँ दिल्ली दरबार की गतिविधि का बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से अनुसरण कर रहा था। उसकी नज़र दिल्ली के तख़्त पर गड़ गई थी।

उन्हीं दिनों उमंग से पूर्ण गुजरात का बहादुरशाह भी अपने इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था। मालवा जीतने के बाद वह मेवाड़ पर आक्रमण करना चाहता था। इसमें सफलता के लिए आवश्यक था कि हुमायूँ का ध्यान इसकी ओर से हट कर किसी दूसरी ओर बँट जाय। बहादुर था बड़ा चालाक। उसने शेरखाँ को अपने पक्ष में मिलाकर हुमायूँ का ध्यान बटाने के अभिप्राय से उसके पास एक अच्छी भेंट भेजी। शेरखाँ ने रुपये तो ले लिए, पर बहादुर खां को कोई स्पष्ट उत्तर न दिया शेरखां ने अपनी सेना में पैदल बढ़ाने आरम्भ किये। उसने बहुत से हाथी भी सेवा में रखे। इसी समय हुमायूँ का बहनोई मुहम्मद ज़मां मिरज़ा. जिसे हुमायूँ ने अंधा करके क़ैद कर देने का हुक्म दे दिया था, बहादुर शाह के यहाँ भाग गया। उसको लौटाने से इन्कार करने पर हुमायूँ ने बहादुर शाह पर १८ फरवरी १५३५ को धावा बोल दिया।

मुग़ल सम्राट के एक प्रबल प्रति पक्षी से भिड़ जाने पर शेरखां को अपनी उमंग पूरा करने का मौक़ा मिल गया। उसने १५३५ में बिहार की सीमा पर स्थित, बंगाल के अन्तर्गत, मुंगेर को अपने आधीन कर लिया। बरसात आजाने से कुछ समय के लिये आगे बढ़ना न हो सका। बरसात समाप्त

होने के कुछ दिन बाद तक वह हुमायूँ का रुख देखने के लिये रुका रहा। क्योंकि इस बीच बहादुरशाह गुजरात से 'ड्यू' द्वीप को भाग गया था और हुमायूँ उस पर विजय प्राप्त कर चुका था। जब शेरखां ने हुमायूँ के आगरा लौटने के कोई चिह्न न देखे तब उसने जनवरी १५३६ में बंगाल के बादशाह महमूद शाह, के विरुद्ध सेना चला दी। महमूद ने पुर्तगालियों की सेना के साथ उसका सामना किया। शेरखां ने उसकी राजधानी गौड़ को घेर लिया। कायर महमूद घबड़ा गया। उसने अपने सहायक पुर्तगालियों की सलाह मान कर शेरखां से लोहा न लिया। वरन १३ लाख सोने की मुहरें देकर संधि कर ली। बहुत से अफ़गान सरदार शेरखां को अबतक उच्चवंश का न मान कर उसके यहाँ नौकरी नहीं करते थे। इस विजय का परिणाम यह हुआ कि उसका भाग्य-सूर्य नित्य तेजोमय होता देखकर वे सब उसके नौकर होने में अपना गौरव समझने लगे।

उधर गुजरात जीत लेने पर हुमायूँ बड़ौदा, भड़ोच, सूरत, बुढ़हानपुर आदि को जीत कर मार्च १५३६ में माण्डू (मालवा) में भोग-विलास में लिप्त हो गया।

शेर खां के बंगाल से चले आने पर महमूद ने उसके विरुद्ध तैयारी शुरू कर दी। दूसरे वर्ष (१५३८) में उसे पुर्तगालियों ने सहायता देने का वचन दिया। शेर खाँ ने इसके पहले ही उस पर हमला करने का निश्चिय किया। अक्टूबर १५३७ में उसने गौड़ पर आक्रमण कर दिया परन्तु गौड़ का परकोटा बहुत मज़बूत था। उसका तोड़ना बिना सैकड़ों जान गवांये सम्भव न था। और यह शेरशाह नहीं चाहता था। इससे उसने नगर

निवासियों को भूखों मार कर उनके आप से आप नगर सौंप देने की प्रतीक्षा में घेरा डाल दिया। जब यह समाचार हुमायूँ को आगरे में मिला तब शेरखां के प्रति उसके भाव बदल गए। उसने उस पर आक्रमण करने की तैयारी की, जाने का हुक्म जारी किया। अपने भाई मिरज़ा अस्करी और हिन्दाल के साथ एक बड़ी भारी सेना लेकर उसने दिसम्बर सन् १५३७ में चुनार को प्रस्थान किया। उसके साथ में बहुत सी राजमहल की एवं सैनिकों की स्त्रियां भी थीं। शेरख़ां को यह हाल मालूम हुआ। गौड़ के घेरे का संचालन अपने पुत्र जलाल ख़ां और सेनापति ख़वास ख़ां को सौंपकर वह स्वयं चुनार को रवाना हुआ। शेरख़ां इन दिनों बड़ी विकट स्थिति में था। यही उसके भाग्य-निर्णय के दिन थे।

परन्तु उसने बड़ी सावधानी एवं दूरदर्शिता से काम किया। ग़ाजी सूर और सुलतान सरवानी की अध्यक्षता में चुनार के क़िले के भीतर एक अच्छी सेना और पर्याप्त रसद तथा युद्ध की सामग्री छोड़कर उसने अपनी और दूसरे अफ़ग़ान सरदारों की स्त्रियाँ 'मारकुण्डा' के क़िले में भेज दी। जनवरी १५३८ में हुमायूँ चुनार पहुँचा। उस जमाने में चुनार का क़िला बहुत ही मज़बूत समझा जाता था। फिर सात साल में शेर ख़ां ने उसे और भी दृढ़ कर लिया होगा। इससे उसका तोड़ना आसान न था। हुमायूँ कई महीने तक चुनार को घेरे पड़ा रहा। इस बीच शेर ख़ाँ दूसरी चाल चल रहा था। उसे अपने तथा अपने सरदारों के बाल-बच्चों को किसी सुरक्षित स्थान में रखना आवश्यक था। मारकुण्डा उनके लिए पर्याप्त तथा उसने रोहतासगढ़ के राजा

को अपनी विपदावस्था लिखकर अपने परिवार को शरण देने की प्रार्थना की। उसके मंत्री को बहुत साधन देकर राजा से यह काम करवाने का भी उसने गुप्त प्रबन्ध किया। राजा ने अनुमति दे दी। परन्तु शेर ख़ाँ के हृदयमें चोर था। उसने बारह सौ डोलियाँ तैयार करवाईं। आगे चलनेवाली कुछेक में तो बूढ़ी स्त्रियाँ बैठाई गईं, लेकिन शेष में स्त्री वेषधारी सशस्त्र अफ़ग़ान सैनिक बैठे थे। क़िले के द्वार में प्रत्येक डोली खोलकर देखी जाती। इस पर शेर ख़ाँ ने भेद खुलता हुआ देखकर राजा को लिख भजा कि परदानशीन स्त्रियों को इस प्रकार देखना उसका अपमान करना है। निदान बिना देखे भाले डोलियाँ क़िले के भीतर पहुँच गईं। शेर ख़ाँ की इच्छा पूरी हो गई। पठान सैनिकों ने क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया। विपद्ग्रस्तों को आश्रय देने का पुण्य एवं यश लूटने के बजाय राजा को अपने घरबार और ख़ज़ाने से हाथ धोना पड़ा। शेर ख़ाँ को एक सुदृढ़ क़िले के साथ ही उसमें असंख्य धन-राशि भी मिली। एक पंथ दो काज। इसके बाद उसने छोटा नागपुर के जंगलों में स्थित झारखंड का किला भी अपने वश में कर लिया। उधर अप्रैल १५३८ में गौड़ पर शेर ख़ाँ की सेना का अधिकार हो गया। महमूदशाह भागकर जीता बच गया। इधर बहुत दिनों तक वीरता से सारे आक्रमण निष्फल करके अन्त में शेर ख़ाँ के सरदारों को क़िला हुमायूँ को सौंपना पड़ा। चुनार जीत लेने पर हुमायूँ को शेर ख़ाँ की बंगाल की विजय का हाल मिला। उसने मारकुण्डा और रोहतास पर धावा बोल देने का हुक्म दिया। हुमायूँ और शेर ख़ाँ दोनों सुलह हो जाने के इच्छुक थे। शर्तें तय नहीं हो

पाती थीं। इसी बीच सुलतान मुहम्मद ने हुमायूँ से भेंट करके उससे पहले गौड़ जीतने की प्रार्थना की। जून १५३८ को उसने बंगाल के लिए प्रस्थान कर दिया।

इस आक्रमण-यात्रा का समाचार सुनते ही शेर खां ५०० घुड़सवार साथ में लेकर स्वयं गौड़ की ओर रवाना हुआ। हुमायूँ ने उसका पीछा करने के लिए एक टुकड़ी भेजी। पर चालाक शेर खां अपने पीछा करने वालों के ही पीछे हो गया। वह सहसराम की पहाड़ियों में छिपकर अपने जासूसों से मुग़ल सम्राट् का हाल लेता रहा। मुग़लों को उसका पता न लग सका। अब उसने मुग़ल सेना से पहले ही बंगाल पहुंचने का निश्चय किया। मार्ग में कई बार बचता हुआ वह बंगाल पहुँच गया। गौड़ पहुँच कर उसने एक बड़ी सेना हुमायूँ का मार्ग रोकने के लिए भेजी। उसने मुग़लों को अपने आकस्मिक आक्रमण से तहस नहस कर दिया। फिर शेर ख़ां गौड़ को पूरी तौर से विध्वंस कर के, वहाँ से प्रायः ६ करोड़ सोने की मुहरें लेकर चुपके से वहां से निकल खड़ा हुआ। सामना करने वाली सेना ने भी हुमायूँ को एक दिन रास्ता दे दिया। सूना नगर आसानी से मिल गया। बड़ी लम्बी यात्रा से थकी हुई हुमायूँ की सेना विजय की खुशी में आनन्द विनोद में मग्न होगयी।

परन्तु शेरशाह को कब चैन थी। उसने बंगाल से लौट कर बनारस के मुग़ल सूबेदार को मार कर वहाँ पर अधिकार जमा लिया। फिर जौनपुर से लेकर कन्नौज तक सारे देश पर आक्रमण किया। जिस किसी ने उसका विरोध किया उसे तलवार के घाट उतार दिया या हराकर देश से निकाल भगाया।

उसने विजित देश को लूटमार से तबाह नहीं किया। वरन् एक न्याय्य अधिकारी की भाँति उसने सर्वत्र अपने आदमी करके ज़मीन का लगान वसूल करने की व्यवस्था कर दी। उसका कहना था कि उसके शत्रु तो मुग़ल थे न कि निरपराध कृषक। फिर वह आगरे की ओर बढ़ा। परन्तु हुमायूँ के गौड़ से चल देने का हाल सुनकर वह रुक गया। उधर हिन्दाल ने, जिसे हुमायूँ ने पहले से दिल्ली भेज दिया था, हुमायूँ के आज्ञानुसार जौनपुर की सहायता को जाने के बजाय, अपने को बादशाह घोषित करके दिल्ली को घेर लिया।

हिंदाल का विद्रोह-समाचार मिलने पर मार्च १५३६ में हुमायूं आगरे के लिए रवाना हुआ। उसने अपने आगे ख़ान-खाना लोदी और अस्करी मिर्ज़ा को कुछ सेना देकर भेज दिया। लोदी को शेरख़ां के सेनापति ख़वास ख़ां ने चुनार में क़ैद कर लिया। हुमायूँ के साथ बहुत कम सेना रह गयी। शेरख़ां ने अच्छा मौक़ा देखकर उस पर आक्रमण करने का आयोजन किया। एक दिन उसने हुमायूँ की सोती हुई सेना पर 'चौसा' (शाहाबाद) नामक स्थान पर हमला कर दिया। मुग़ल-सेना भाग खड़ी हुई। स्वयं हुमायूँ घायल होकर भागा। गंगा में कूद कर उस पार जाकर प्राण बचाने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता न था। हुमायूँ ने अपना घोड़ा फँदा दिया। परन्तु बीच धार में घोड़ा बहाव के कारण छूट गया और सम्राट डूबने लगा। एक भिश्ती ने संयोग वश अपनी मशक के द्वारा पार उतार कर दिल्ली के शाहंशाह की जान बचायी। अनुमान है कि इस युद्ध में ८००० मुग़ल सैनिक काम आये। हुमायूँ की बेगमों तथा अन्य स्त्रियों से शेरख़ां बड़े आदर से पेश

आया। किसी स्त्री के साथ उसने कोई अनुचित व्यवहार न होने दिया।

इसके बाद शेरख़ां ने अपने सेनापति ख़वास ख़ां को विहार और पुत्र जलाल ख़ां को बंगाल पर स्वत्व जमाने के लिये भेज कर स्वयं हुमायूँ का पीछा किया। वह कन्नौज पहुंच कर रुक गया। और विजित देश पर पूरी तरह अधिकार करने का प्रबन्ध करने लगा। हुमायूँ की पराजय सुनकर जौनपुर और चुनार के मुग़ल अधिकारी भी हिम्मत हार कर वहां से भाग गए। शेरख़ां के हाथ में इस प्रकार बंगाल से लेकर कन्नौज तक सारा देश आ गया। अभी तक शेरख़ां एक उत्साही योद्धा मात्र था। अब उसने अपने सरकारी सरदारों की सलाह से अपने को बादशाह घोषित करने का निश्चय किया। दिसम्बर १५३६ में, ५३ वर्ष की आयु में गौड़ में शेरख़ां का राज्याभिषेक हुआ। 'खां' के स्थान को 'शाह' ने ले लिया। शेरशाह के नाम के सिक्के बनवाये गये। राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों को इसकी सूचना भेज दी गयी। कई दिन तक बहुत जल्से होते रहे।

बंगाल का शासन ख़िजर ख़ां को देकर फरवरी १५४० में शेरशाह ने हुमायूँ पर हमला करने के विचार से कन्नौज की ओर प्रस्थान किया। प्रयाग पहुँच कर उसने अपने पुत्र कुतुब ख़ां को सेना का एक हिस्सा देकर कालपी और इटावा जीतने के लिये भेजा। हुमायूँ ने पिछले सात महीनों तक अपने सब भाइयों को एकत्रित करके शेरशाह के विरुद्ध एक बड़ी सेना तैयार करने के असफल प्रयत्न किए। कुतुब ख़ां के विरुद्ध आगरे से सेना भेजी गयी। वीर युवक कालपी के पास खेत रहा। उधर शेरशाह ने कन्नौज पहुँच कर युद्ध की तैयारी

आरंभ कर दी। हुमायूँ ने भी शेरशाह से बड़ी सेना जुटाली। परन्तु ऐन वक्त पर उसके कई अफ़सरों ने धोखा दे दिया। बहुत से सिपाही भी लड़ने से इन्कार करने लगे। बिलग्राम के पास युद्ध हुआ। मुग़लों की पहले से ही असन्तुष्ट सेना में भगदड़ मच गयी। बहुत से भगोड़े मुग़ल गंगा में डूब गये। हज़ारों मारे गये। शेरशाह की जीत हुई।

इस विजय के बाद शेरशाह ने कन्नौज पहुँच कर एक सेना 'संभल' की ओर और दूसरी आगरे की तरफ़ भेजी। अभागा हुमायूँ थोड़े से बचे हुये घायल साथियों के साथ आगरा पहुँचा। वहां से हिन्दाल की मां, अपनी स्त्री और दासियों तथा कुछ ख़ज़ाना लेकर वह लाहोर की ओर भागा। कुछ दिन बाद शेरशाह भी आगरे पहुँचा। वहां से ख़वास ख़ां को हुमायूँ का पीछा करने के लिये भेजा। इस पीछा करने का उद्देश्य उसको पकड़ना नहीं बल्कि उसको हिन्दुस्थान के बाहर तक खदेड़ना था। जुलाई १५४० में बरसात के कारण ख़वास ख़ां को 'सुल्तानपुर' नामक स्थान पर प्रायः तीन महीने तक रुकना पड़ा। वह हुमायूँ की हरकत देखता रहा।

आगरे में कुछ दिन रहकर शेरशाह भी दिल्ली पहुँचा। वहां से हुमायूँ का पीछा करने लाहोर की तरफ़ बढ़ा। बरसात में तीन महीने का अवकाश मिलने पर भी हुमायूँ मुग़लों को इकट्ठा न कर सका स्वयं उसके भाई 'कामरा' ने कोई मदद न की। उसे डर था कि हुमायूँ के लाहौर में रहने से वह काबुल और कन्धार में निश्चिन्त न रह सकेगा। विपत्ति में कौन किसका साथी होता है। कहा भी है कि 'आपदकाल परखिए चारी, धीरज, धरम, मित्र अरु नारी।' अस्तु जब हुमायूँ को

खबर मिली कि शेरशाह 'सरहिन्द' तक पहुँच गया है और रोज आगे बढ़ता जाता है तब उसने शेरशाह के पास कहला भेजा कि 'मैंने सारा हिन्दुस्तान आप के लिए छोड़ दिया है, अब मुझे पंजाब में तो रहने दीजिए।' परन्तु शेरशाह ने उत्तर दिया कि, 'आपके लिए हिन्दुस्थान नहीं क़ाबुल उपयुक्त स्थान है।' वह लाहोर के समीप पहुँचा। हुमायूँ सिन्ध की तरफ भागा। खवास ख़ां ने उसका पंचानन तक पीछा किया।

हुमायूँ के लिए खवास ख़ां को काफ़ी समझ कर शेरशाह लाहौर से पश्चिम की ओर बढ़ा। उसने ऊपरी झेलम और सिंध के मध्य के विलोची 'गक्खारों' को अपने आधीन कर के सीमान्त प्रदेश को सुरक्षित कर लिया। इसी समय उसे बंगाल के नवाब खिजर खां की बग़ावत की ख़बर मिली। ५०,००० सेना के साथ अपने विश्वासपात्र सेनापतियों को पंजाब में छोड़ कर वह बंगाल को दौड़ा। खि़जर ख़ा ने क्षमा मांगी। परन्तु शेरशाह ने उसे अलग करके बंगाल को कई हिस्सों में बांट कर कई हाकिमों के सिपुर्द कर दिया। उन सब की निगरामी के लिए एक उच्च कर्मचारी भी रखा। जून १५४१ से जनवरी १५४२ तक बंगाल में रह कर उसने ऐसा प्रबंध किया कि फिर कभी विद्रोह न हो सके। इसके बाद शेरशाह ने हुमायूँ के सूबेदार अबुल कासिमबेग से ग्वालियर का क़िला लेकर अप्रैल १५४२ में मालवा पर चढ़ाई कर दी। वहाँ के हाकिम मल्लू ख़ा ने बिना युद्ध किए ही शेरशाह की आधीनता स्वीकार कर ली। शेरशाह ने उसे मालवा में रहने देना ठीक न समझा और बंगाल की सूबेदारी देकर वहाँ जाने की आज्ञा दी। अकबर ने भी आगे चलकर विजित शत्रुओं के साथ इसी

नीति का अवलम्बन किया। किन्तु मल्लू .खां ने बंगाल को एक प्रकार से देश निकाला समझ कर वहाँ जाना स्वीकार न किया। एक रात मौका पाकर वह सपरिवार गुजरात भाग गया। शेरशाह की सेना ने उसका पीछा किया, पर पकड़ने में सफलता न मिली। मालवा में हाजी .खां और जुनेद् खां की अध्यक्षता में १२,००० सिपाही छोड़ कर शेरशाह रणथम्भोर की ओर रवाना हुआ। उसे समाचार मिला कि हुमायूँ मेवाड़ के राजा मालदेव की शरण में है। उसको लिख भेजा कि मेरे शत्रु को अपने राज्य से निकाल दो। शेरशाह से युद्ध करने में असमथ मालदेव ने उसकी आज्ञा मान ली। (हुमायूँ जैसलमेर की ओर भागा। इसी भगदर में उसकी स्त्री हमीदाबानो के गर्भ से 'अमरकोट' में भारत का भावी सम्राट्, अकबर पैदा हुआ।) इसलिए शेरशाह ने मालदेव पर चढ़ाई न की। नागौद् तक का देश जीत कर शेरशाह आगरा लौट आया। वहाँ से दिसम्बर १५३२ में बिहार की शासन व्यवस्था ठीक करने गया। पटना में पांच लाख रुपया लगाकर एक दृढ़ क़िला बनवाया। फिर मार्च १५४३ के लगभग वह मालवा के अन्तर्गत 'रायसीन' का क़िला जीतने चला। वहाँ के राजपूत राजा पूरनमल ने पर्याप्त समय तक पठानों से लोहा लिया। अन्त में वह शेरशाह को इस शर्त पर क़िला दे देने के लिए तैयार हो गया कि वह अपने बाल बच्चों और .फौज के साथ पूर्ण सुरक्षित निकल जाने दिया जाय। शेरशाह ने उसको इजाज़त दे दी। थोड़ी दूर जाने के बाद पठान असावधान राजपूतों पर टूट पड़े। शेरशाह का वादा रखा रह गया। उसने भी अपने बच्चों का स्मरण कर अपने सिपाहियों को न रोका। कदाचित्

काफ़िरों की हत्या का पुण्य वचन-भंग के पाप से तोल में अधिक होता होगा। राजपूतों के बच्चों और स्त्रियों ने जौहर किया और वे स्वयं युद्ध करते-करते स्वर्ग सिधारे। इसी बीच दूसरी ओर उसके पंजाब के सेनापति हैबत ख़ां ने उसकी आज्ञा से मुलतान को घेर रखा था। वहां के विलोचियों को हराकर उसने मुलतान पर कब्ज़ा कर दिया। फिर हैबत ने सिंध पर भी अधिकार कर लिया। वहाँ के मुख्य नगर 'सक्कर' और 'बक्कर' का नाम शेरगढ़ रखा। इस बात का समर्थन सिंध में प्राप्त शेरशाह के दो सिक्कों से होता है जो कलकत्ता के अजायब घर में सुरक्षित हैं। सिंध सम्भवतः नवम्बर १५४३ में विजित हुआ था।

इसके पश्चात् शेरशाह ने दिल्ली के पास ही नयी दिल्ली बसायी और वहां 'शेरमण्डल' नामक महल बनवाया। फिर कई महीने पंजाब और दिल्ली के आसपास के देश में उसने शासन और लगान सम्बन्धी सुधार करने में बिताए। मुलतान के इधर-उधर के इलाक़े की नाप करवायी। तदनन्तर उसने मार्च १५४४ में मारवाड़, अजमेर, चित्तौर, जोधपुर, आबू आदि प्रसिद्ध राजपूत राज्यों को अपने आधीन किया। इस तरह राजपूताने पर अधिकार करके शेरशाह बुन्देलखण्ड को जीतने चला। उसने उस समय अपनी मज़बूती के लिए विख्यात कालींजर (जो आजकल 'बांदा' जिला में है) के किले पर आक्रमण किया। इस हमले का कारण वहां के राजा कीरत सिंह का बुलाने पर शाह के पास न आना अथवा किसी विद्रोही राजा को पनाह देना बतलाया जाता है। जो हो, नवम्बर १५४४ में कालींजर घेर लिया गया। शेरशाह ने

इस किले के जीतने में जो अमानुषिक उत्साह और दृढ़ निश्चय दिखलाया था वह पहले कभी नहीं देखा गया था। ७ महीने तक लगातार २००० आदमी रोजाना एक इतनी मीनार तैयार करने में लगे रहे कि उस पर से समुद्र के धरातल से १२३० फ़ीट ऊँची पहाड़ी पर स्थिति १८० फीट ऊँची दीवारों वाले किले का आँगन दिखलायी पड़ने लगा। उस ऊँची मीनार पर तोपें रखी गयीं। २२ मई १५४५ को गोलाबारी और आक्रमण आरम्भ हुआ। शेरशाह ने स्वयं नेतृत्व ग्रहण किया। एक दिन वह तोपखाने के पास खड़ा गोले चलवा रहा था। संयोगवश एक गोला दीवार पर टकरा कर लौट आया। उसके फट जाने से तोपखाने में आग लग गयी। इस आकस्मिक विस्फोट से शेरशाह का आधा शरीर झुलस गया। इस दशा में वह डेरे में लाया गया। ज़रा होश आने पर उसने सेनापति ईसा खां को बुलाया और कहा कि मेरे मरने के पहले ही क़िले पर कब्ज़ा कर लो। पठान 'अल्लाहो अकबर' के नारे लगाते हुए किले पर टूट पड़े। बीच बीच में मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ शेरशाह अपने क्षीण शब्दों से सिपाहियों का जोश बढ़ाता जाता था। दोपहर तक में पठान किले के भीतर घुस गये। यह समाचार सुनते ही शेरशाह के चेहरे पर रौनक आ गयी। बुझते हुए दीपक की अन्तिम लौ भी ज़रा अधिक प्रकाशवती होती है। वह बोल उठा, "ख़ुदा का शुक्र है। यही मेरी आख़िरी मुराद थी।"

इतना कह चुकने पर उस प्रचण्ड दीप्तिमान दीपक की अन्तिम लौ बुझ गयी। यह शनिवार २२ मई १५४५ की दुर्घटना है। इस प्रकार एक महान् सैनिक, और राजनीति कुशल

शासक ने जीवन की अन्तिम घड़ियों तक 'कर्म में बसते हैं भगवान्' का व्यावहारिक आचरण करते हुए युद्ध भूमि में वीरगति प्राप्त की। शेरशाह की मृत्यु के पांच दिन बाद उसका छोटा लड़का जलाल खां रीवां से तेज़ी से कूच पर कूच करता हुआ आया। उसे सरदारों ने दिल्ली का अधीश्वर घोषित किया। कालींज़र के समीपवर्ती लालगढ़ नामक स्थान में शेर-शाह की लाश दफन की गयी। सहसराम में शेरशाह का रौज़ा अब भी मौज़ूद है। उसमें अनन्त-निद्रा में सोने के लिए उसको स्वयं शाह ने ही अपने जीवनकाल में बनवाया था। इस रौज़े में विश्राम देने के लिए या तो पहले ही उसकी अर्थी सहसराम भेजी गयी होगी अथवा यदि परम्परा-कथित लालगढ़ में ही उसका दफ़न किया जाना मानें तो कदाचित् कुछ समय बाद उसकी अस्थियां सहसराम भेजी गयी होंगी। अस्तु शेरशाह छः वर्ष तक बंगाल और जौनपुर का अधीश्वर और केवल छः महीने तक हिन्दुस्तान का सम्राट् रहा। मृत्यु के समय उसकी आयु ६० साल के लगभग रही होगी।

यह तो हुआ शेरशाह का एक साधारण जागीरदार का परित्यक्त पुत्र के रूप में उत्पन्न होकर अपने बाहुबल से भारत का अधिपति होकर प्राण त्यागने का संक्षिप्त वर्णन। अब थोड़े में यह भी दिखाना है कि जीवन का अधिकांश संग्राम करने में बिताते हुए भी शेरशाह ने राज्य सम्बन्धी कौन से ऐसे काम किए हैं जो उसके पूर्ववर्ती किसी मुसलमान बादशाह ने प्रायः नहीं के बराबर किए थे। सब से पहले उसकी शासन, व्यवस्था को लीजिए। शेरशाह ने आसाम से मुलतान और सिन्ध तक एवं पंजाब से सतपुड़ा की पहाड़ियों तक एक सुदृढ़ एकतंत्र

राज्य स्थापित किया । अपने सूबेदारों को पूरी तरह काबू में रखने के लिए उसने केन्द्रस्थ सरकार के हाथ में शासन सेना और कोष सम्बन्धी शक्ति रखी। राज्य प्रबन्ध की सुविधा के विचार से उसने अपने सूबे सरकारों और उनको परगनों में बांट दिया था। हर परगने का सब से बड़ा हाकिम, जिसके आधीन पुलिस और फौज भी होती थी, शिकदार कहलाता था। लगान वसूल करने और ज़मीन की जांच पड़ताल करने के लिए हर परगने में एक अमीन, और उसके नीचे एक ख़जांची तथा दो 'कारकुन' (क्लर्क) होते थे। प्रत्येक सरकार में न्याय तथा प्रबन्ध (Civil) के लिए 'मुन्सिफ़े-मुन्सिफ़ान' (प्रधान-मुंसिफ़) और सैनिक विभाग (Military) के लिए 'शिकदारे-शिकदार' (प्रधान शिकदार) यह दो मुख्य अधिकारी हुआ करते थे। यह हाकिम हर दूसरे तीसरे साल तबदील होते रहते थे। सीमान्त एवं सैनिक स्थलों के अधिकारी अलग थे। उसके आधीन बड़ी फौजें रहती थीं। शेरशाह स्वयं राज्य के प्रत्येक विभाग की जांच करता था। मंत्रीगण उसके हुक्म के अनुसार काम करने वाले मात्र थे। ख़जाना उसी के अधिकार में रहता था। अकबर के राज्य में भी उपर्युक्त ढंग से ही राज्य-कार्यों का विभाजन हुआ था।

सेना का प्रबन्ध भी शेरशाह स्वयं देखता था। वही प्रधान सेनापति था। हरेक सैनिक को उसके सामने नियमित रूप से वेतन दिया जाता था। भर्ती करते समय वह हर सिपाही की जांच और उसका वेतन निश्चित किया करता था। मुख्य मुख्य क़िलों में एक फ़ौजदार रहता था । हर किले में पैदलों, सवारों और बन्दूक चलाने वालों की काफी फ़ौज रहती थी।

बादशाह के पास भी एक बड़ी सेना हर वक्त रहा करती थी।

मालगुज़ारी के सम्बन्ध में शेरशाह ने अपने पिता की जागीर में जो कुछ किया था किया जा चुका है। भारत का सम्राट् होने पर भी उसने अपने वही प्रयोग जारी रखे। उसके पहले लगान निश्चित न था। बादशाह के इच्छानुसार वह घटता बढ़ता रहता था। शेरशाह ने प्रायः सम्पूर्ण देश की पैमायश कराकर ज़मीन की पैदावार का एक चौथाई लगान बांध दिया। प्रत्येक किसान से 'क़बूलियत' लिखवा कर उसे ज़मीन के अधिकार का पट्टा देना अमीनों का काम था। शेरशाह का हुक्म था कि लगान निश्चित करते समय बहुत उदारता दिखलायी जाय, परन्तु वसूल करते समय मौका पड़ने पर पूरी सख़्ती भी की जाय। तथापि जब कहीं अकाल पड़ जाता था तब लगान मुआफ़ कर दिया जाता था। साथ ही रियाया की मदद भी की जाती थी। इस भूमि की पैमायश तथा मालगुज़ारी के कामों में शेरशाह का बहुत कुछ काम टोडरमल ने किया था। यही टोडरमल राजा की उपाधि के साथ अकबर के मुहकम-ए-मालगुज़ारी का प्रधान और उसकी पैमाइश और लगान सम्बन्धी नीति का वास्तविक जन्मदाता था।

शेरशाह ने गद्दी पर बैठते ही राज्य में सिक्के की बड़ी दुर्दशा देखी। उसने राज्य की तत्कालिक आवश्यकता पूरी करने के लिए तांबे के बहुत से सिक्के जारी किए जो बाद में 'दाम' कहलाए। 'दाम' के आधे, चौथाई, आठवें और सोलहवें हिस्से के सिक्के भी प्रचलित किये गये। उसने सोने

और चांदी के भी सिक्के जारी किये। उस पर नागरी एवं अरबी लिपियों में सम्राट् का नाम खुदा रहता था।

व्यापार भी इस उदार शासक के समय में उन्नतावस्था में था। व्यापारियों को राज्य की ओर से हर प्रकार की सुविधाएँ मिलती थीं। राज्य-कर्मचारी बाज़ार भाव से कम मूल्य पर कोई वस्तु नहीं ले सकते थे। शेरशाह की कीर्ति आज भी हम उसकी बनवायी हुई सड़कों में पाते हैं। सोनार गांव (ढाका के पास) से लेकर सिन्ध नदी तक १५०० कोस की लम्बी उसकी बनवाई हुई सड़क आजकल 'ग्राएडट्रंक रोड' कहलाती है। आगरा से एक और दूसरी जोधपुर जाने वाली शेरशाही सड़कें अब तक मौजूद हैं। लाहौर से मुलतान तक भी उसने एक सड़क बनवाई थी। इन सड़कों की दोनों तरफ़ हरे भरे फलदार वृक्ष लगवाए गए थे। इनपर दो दो कोस के फ़ासले पर सरायें थीं। कुएं और पौसले भी जगह-जगह पर थे। इनपर हिन्दू यात्रियों के सुभीते के लिए हिन्दू भी नौकर थे। हर सराय में एक सांडिनी सवार रहता था किसका काम राज्य सम्बन्धी समाचार अगली सराय तक पहुँचाना होता था इनके द्वारा आसानी से राजकीय कागज़ात और समाचार शाह को मिलते रहते थे।

शेरशाह की पुलिस-व्यवस्था सरल किन्तु बहुत अच्छी थी। परगना हाकिम शिकदारों की अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर होने वाली चोरी, डकैती, हत्या आदि का पता लगाना होता था। पता लगाने में असमर्थ होने पर उनको ही दण्ड मिलता था। इससे वे बहुत चौकन्ने रहते थे। इस कड़ाई का

परिणाम यह था कि कमज़ोरों को कोई नहीं सता सकता था और न किसी को जान-माल का ख़तरा रहता था।

लगातार युद्ध और राज्य-व्यवस्था में लगा रहने पर भी उसने कई इमारत बनवाकर अपनी ललित कला की प्रियता का परिचय दिया है। उसका बनवाया अपना ही 'सहरोम' का मक़बरा कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर है। पटना में उसकी बनवाई एक मस्जिद और दिल्ली के किले में उसका बनवाया एक महल अब भी मौजूद है। इनके अलावा भी उसने कई सुन्दर इमारतें और क़िले बनवाए थे।

उपर्युक्त पंक्तियों पर ध्यान देने से यह निष्कर्ष निकलता है कि शेरशाह कठोर हृदय का शासक होते हुए भी अपनी प्रजा के लिए दयालु और उसका हितैषी था। उसके हृदय में आरम्भ से ही किसानों के प्रति बढ़ी सहानुभूति थी। उसने उनकी दशा सुधारने के जो उपाय किये वह ऊपर दिखाये जा चुके हैं। उसका यह नियम था कि हर भूखे आदमी को राज्य की ओर से खाना दिया जाय। इसके लिए सरायों में अन्न की व्यवस्था थी। न्याय-प्रियता में शेरशाह का समकक्ष अन्य मुसलमान बादशाह कठिनाई से मिलेगा। दोषी को क्षमा करना तो वह कदाचित जानता ही न था। उसके सम्बन्धी और उच्च कर्मचारी तक प्रजा को तंग करने पर कड़ी सज़ा पाते थे। यदि कभी उसके कर्मचारी या सैनिक खेती की किसी प्रकार हानि पहुँचा देते थे तो वह किसानों को बदला दिलवा देता वह पीड़ित पर दया दिखाना जानता था। हुमायूँ की बेगमों के साथ उसने 'चौसा' के युद्ध के बाद जो व्यवहार किया था वह उसकी सहृदयता का उदाहरण है। मुसलमान

होते हुए भी उसने धर्मान्ध होकर कभी किसी हिन्दू का जी नहीं दुखाया—न कोई मन्दिर तोड़ा न मूर्ति तोड़ी और न अपने हाथ से धर्म के नाम पर किसी काफ़िर को क़त्ल करके 'ग़ाज़ी' बनने की चेष्टा की। प्रजा की भलाई करने और जहां तक हो सकता उसके कष्टों को कम करने का ध्यान उसे सदा रहता था।

शेरशाह के वैयक्तिक जीवन में विलासिता का कोई उदाहरण नहीं मिलता। वह बहुत काम करने वाला व्यक्ति था। उसकी दिनचर्या-अनुकरणीय है। वह दो बजे सोकर उठता था। शौच और स्नान के बाद नमाज़ पढ़ता। फिर राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के कर्मचारी आते और पिछले दिन की घटनाएं बतलाते। तीन चार घण्टे तक शेरशाह इन घटनाओं अथवा राजकीय विभागों की बातें सुनता और उन पर आज्ञाएं लिखवाता था इतने में सबेरा होजाता। तब वह सेना को देखता, नवीन भर्ती किये गये सैनिकों से बातें करता, और घोड़े दगवाकर उनका वेतन निश्चित करता फिर दूसरी नमाज़ पढ़कर कलेवा करता। तदन्तर दोपहर तक दरबार करता। इस बीच वह हिसाब-किताब जांचता, परगनों से आया हुआ ख़ज़ाना रखवाता बाहर से आगन्तुक लोगों से भेंट करता, तथा प्रान्तीय अधिकारियों के पत्र पढ़ता और मुंशियों से उनको जवाब लिखवाता फिर नमाज़ पढ़कर ज़रा सा विश्राम करता। सन्ध्या कुरान पढ़ने और सब के साथ मिलकर नमाज़ पढ़ने में व्यतीत होती। यह दिनचर्या यात्रा के समय में भी यथासम्भव रहती थी। ऐसा नियमित जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति उन्नति के शिखर पर क्यों न पहुँचे ?

यह निर्विवाद है कि अकबर के समान शेरशाह भी राजनीति विशारद था। हिन्दुओं के देश में, उनके ऊपर स्थायी शासन के लिए उनपर अत्याचार करने की आवश्यकता कदाचित् उसी ने पहले पहल समझी थी। इसी से उसके जीवन में धार्मिक पक्षपात न घुस पाया था। व्यक्तिगत जीवन में कट्टर एवं व्यावहारिक मुसल्मान होते हुए भी उसने भारत को मुसल्मानों का देश बनाने की मूर्खता पूर्ण चेष्टा कभी नहीं की। उसने धर्म को राजनीति से सदैव अलग रक्खा। उसने व्यक्ति को जाति और धर्म का विचार न करते हुए समान रूप से प्रोत्साहन दिया। वह अपनी सम्पूर्ण हिन्दू और मुसल्मान प्रजा का एक संगठित राष्ट्र बनाना चाहता था परन्तु खेद है वह (छः महीने तक दिल्ली के सिंहासन पर रहकर) अकाल ही काल कवलित हो गया और यह काम पूरा न कर सका। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि शेरशाह ही ने भारत को एक राष्ट्र बनाने के कार्य का सूत्र पात किया था। उसी की नींव पर आगे चलकर अकबर ने महल खड़ा करने का प्रशंसनीय कार्य किया।

इस विवेचन से यह सिद्ध होजाता है कि शेरशाह के आरम्भ किये हुए कामों को आगे बढ़ाकर अकबर ने इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर शेरशाह से बहुत बातों में श्रेष्ठतर था, परतु 'निर्माणात्मक (constructive) राजनीतिज्ञता, शासन-पटुता, राज्य-कार्य-निरीक्षण अथवा परिश्रम का और दूरदर्शिता, न्यायप्रियता, वैयक्तिक जीवन की शुद्धता और नियम पालन में अकबर शेरशाह के सामने नहीं ठहर सकता। हिन्दू और मुसल्मान

धर्मों का उचित एवं निष्पक्ष सम्मान करने के कारण शेरशाह का शासन वर्तमान भारत के लिए एक उत्तम आदर्श का काम दे सकता है। यह निश्चय है कि इस देश में जब तक इन दोनों धर्मों के प्रति निष्पक्ष होकर व्यवहार नहीं किया जायगा तब तक शान्ति और समृद्धि के दिन दूर हैं। इसलिए हमारा गांधी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का राग अलाप रहा है।

निस्सन्देह शेरशाह का राज्यकाल मुसल्मानी शासन के लिए गौरव और हिन्दुओं के लिए शान्ति एवं उचित सम्मान का समय था।

महात्मा कबीरदास

कबीर का जन्म 'कबीर कसौटी' के अनुसार ज्येष्ठ पूर्णिमा सम्वत् १४५५ में हुआ था। इन की माता का नाम नीमा और पिता का नाम नीरू था। यह जाति के जुलाहे थे। कहते हैं, यह नीमा के औरस पुत्र न थे। उसने एक दिन सूर्योदय से पूर्व काशी के लहरतारा नामक तालाब के पास एक नव-जात शिशु पड़ा पाया। उसे एक विधवा ब्राह्मणी स्वाभाविक मातृ-वात्सल्य की अवहेलना करके लोक-लज्जा के भय से वहाँ छोड़ गई थी। नीमा निःसन्तान थी। ईश्वरीय देन समझ कर उसने सुन्दर बालक को उठा लिया। उसका पति भी इस पर प्रसन्न हुआ। बड़े प्रेम से बच्चे का पालन किया गया। आगे चल कर बालक संसार में 'कबीर' (अरबी भाषा में जिस का अर्थ 'महान्' होता है) नाम से विख्यात हुआ। कुछ लोग इस जन्म-कथा को मन-गढ़न्त समझते हैं। उनकी राय में नीमा कबीर की पालक नहीं जन्मधात्री माँ थी। कबीर ने भी अपने को कभी ब्राह्मण नहीं कहा सदैव जुलाहा ही कहा है। एक स्थान पर वह कहते हैं—

"तू बाँभन मैं काशी का जुलहा बूझौ मोर गियाना।" अस्तुः

कबीर के बाल्यकाल का हाल बहुत कम मिलता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अपना पैतृक-व्यवसाय, कपड़ा

बिनना, करते हुए यह अवकाश पाने पर साधु-सन्तों के पास समय बिताया करते थे। उनकी धार्मिक चर्चाएँ बड़े चाव से सुनते और उन पर विचार किया करते थे। साधुओं की संगति से कबीर तिलक भी लगाने लगे थे। कुछ लोगों ने कहा कि जबतक किसी गुरू से दीक्षा लेकर तिलक और अन्य साम्प्रदायिक चिन्ह नहीं किए जाते तब तक उनका पूरा फल नहीं मिलता। कबीर ने सुन रखा था कि उन दिनों काशी में स्वामी रामानन्द नामक बहुत प्रसिद्ध महात्मा रहते थे। यह भी रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में से थे। जात-पांत का विचार न कर यह सबको अपना उपदेश सुनाया करते थे। अछूत कहलाने वाले लोग भी इनके शिष्य थे। इतना जानते हुए भी कबीर को सन्देह था कि परम वैष्णव स्वामी रामानन्द एक मुसलमान को दीक्षा देना स्वीकार करेंगे। उन्हें एक युक्ति सूझी। स्वामी जी प्रति दिन ब्राह्ममुहूर्त में मणिकर्णिका घाट पर गंगा स्नान करने जाया करते थे। कबीर को यह ज्ञात था। एक दिन वे पहले से वहां जा पहुँचे। सीढ़ी पर लेट रहे। रामानन्द जी यथा नियम वहां गये। अँधेरा था ही, उनका पैर कबीर के ऊपर पड़ गया। दयालु-हृदय स्वामी के मुख से निकल पड़ा, 'राम, राम'। कबीर तुरन्त उठ खड़े हुए। 'बोले, स्वामिन आपने मेरे सिर पर अपने पवित्र चरण रखकर मुझे राम 'मन्त्र' दिया। मैं आप का शिष्य हो गया।' श्री रामानन्द कबीर के इस युक्ति से दीक्षा प्राप्त करने पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसका गुरू होना स्वीकार कर लिया। कबीर अपने गुरू के साथ रहने लगे। उनके आध्यात्मिक उपदेश सुनने में अपना समय बिताने लगे।

परन्तु कबीर घर बार छोड़ कर बैरागी नहीं हुए। उन्होंने अपना पेशा नहीं छोड़ा। कपड़ा बिनने के साथ-साथ वे अध्यात्म चिन्तन करते थे। गृहस्थ रहते हुए वे परमार्थ-विचार में लग्न थे। उनका विवाह भी हुआ था। स्त्री का नाम लोई था। उसके गर्भ से कमाल पुत्र और कमाली कन्या हुई थी। प्रवाद है कि लोई अत्यन्त सुन्दरी थी। उस पर एक साहूकार का नौजवान लड़का आसक्त हो गया। एक दिन कबीर के यहाँ बहुत से साधु आ गए। उनके आतिथ्य सत्कार के लिए कुछ न था। लोई ने कहा यदि आज्ञा हो तो मैं उस सेठ से आवश्यक द्रव्य ले आऊँ। कबीर ने अनुमति दे दी। रात में फिर मिलने का बचन देने पर लोई को यथेच्छ रुपया सेठ पुत्र से मिल गया। कबीर ने सन्तों का सत्कार किया। लोई ने रात में मिलने की बात बतला दी। इत्तिफाक से सन्ध्या से ही मूसलाधार पानी बरसने लगा। किन्तु कबीर बचन के पक्के थे। उन्होंने लोई को कन्धे पर बैठा कर उसे कामान्ध साहूकार के द्वार पर पहुँचा दिया। जब उसने देखा कि लोई के पैर सूखे हैं, उसके शरीर पर पानी की एक छींट भी नहीं, तब उसे आश्चर्य हुआ। लोई ने सारा हाल बतला दिया। उस सेठ के बच्चे को वेहद शर्म आई। द्वार जाकर भीगते हुए कबीर से क्षमा मांगी और उनका मुरीद हो गया।

लड़कपन से ही जीविका उपार्जन करने के चक्कर में फँस जाने के कारण कबीर किसी स्कूल में बैठ कर अक्षरों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके थे। वह लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। फिर भी, जैसा कहा जा चुका है, साधु-महात्माओं की लगातार संगति से वह बहुश्रुत हो गए थे। सुन-सुनकर ही उन्होंने

बहुत सी बातें सीख ली थीं। उन्होंने देशाटन भी बहुत किया था। इसी कारण उन्हें दुनियादारी की बहुत सी बातें मालूम हो गई थीं। कड़ा परिश्रम करके ईमानदारी की कमाई खाने और अच्छे लोगों के साथ उठने बैठने का प्रभाव यह हुआ कि कबीर में सांसारिक छल-कपट न आ सके। उन्हें सत्य पर पूरी निष्ठा हो गई। वे 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात्स-त्यमप्रियम्' के समर्थक न रह गए। उन्हें अप्रिय सत्य कहने में ज़रा भी आनाकानी न होती थी। इसी चरित्र-बल के कारण वे हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की बुराइयाँ स्पष्ट शब्दों में चिल्ला-चिल्ला कर कहा करते थे। दोष किसी में हो उन्हें वह सह्य न था। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की बुराइयां खुले आम करना बड़ी हिम्मत का काम था। कबीर कहते थे 'अरे इन दोउन राह न पाई।' उनका तो कहना था कि—

मुझको कहां ढूँढ़ता बन्दे मैं तो तेरे पास में।
न मैं देवालय ना मैं मसजिद, न काबा-कैलाश में॥
ना तो कौनो क्रिया कर्म में, नहीं जोग-बैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहो, पलभर की तालाश में॥
मैं तो रहौं शहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में।
कहैं 'कबीर' सुनो भाई साधो, सब सांसों की सांस में॥

कबीर आडम्बर के विरोधी थे। इस कारण कट्टर धर्मान्ध इनके विरोधी हो गए। यह लोग इन्हें तंग करने पर तुल गये। तत्कालीन बादशाह सिकन्दर लोदी के पास भी शिकायत पहुँची कि इस्लाम पर आक्षेप करके कबीर लोगों को बहका रहा है। लोदी ने इन्हें अपने दरबार में बुलवा भेजा। दर-बारियों ने इनसे कहा कि बादशाह को प्रणाम् करो। इन्होंने

कहा कि मुझे उससे क्या काम, मैं तो एक-मात्र ईश्वर को जानता हूँ जो सब शाहों का शाह है। इस उत्तर से नाराज़ होकर सिकन्दर ने कबीर को जंजीरों से बँधवा कर उन्हें गंगा में छोड़वा दिया। किन्तु कबीर का बाल भी न बांका हुआ। इसी प्रसंग पर मालूम होता है यह पंक्तियां कही गई हैं—

गंग-लहर मेरी टूटी जंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर।
कहु कबीर कोउ संग न साथ, जल-थल राखत है रघुनाथ॥

यह धार्मिक विरोध बढ़ता गया और अन्त में कबीर को अपना जन्म एवं निवास स्थान काशी छोड़ना पड़ा। काशी छोड़ने का एक और कारण बतलाया जाता है। परम्परा से यह धारणा चली आती है कि काशी में शरीर छोड़ने वाले को शंकर आवागमन से मुक्त कर देते हैं। कबीर मस्त जीव थे। यह किसी की 'कृपा' से मुक्त नहीं होना चाहते थे। आपने कहा, "जो कबिरा काशी मरै तो रामै कौन निहोर।" यदि अन्यत्र मरने पर मुक्ति हो जाय तो भगवान् का कुछ एहसान भी है, काशी में मरकर मुक्ति पाना मेरे ऊपर कोई विशेष कृपा होगी नहीं, यहां तो सभी तर जाते हैं। ऐसा कहकर कहते हैं, कबीरदास गाजीपुर के समीपवर्ती 'मगहर' नामक स्थान में चले गये। इस स्थान पर प्राण देने वाले को नरक होता है ऐसा कहा जाता है। मरने के लिये जाकर 'मगहर' में रहना कबीर की स्वच्छन्दता का उत्कृष्ट उदाहरण है। जरा जीर्ण शरीर वाले कबीर के पास मृत्यु का सन्देश आ पहुँचा। उन्होंने हँसते-हँसते यहां से प्रस्थान कर दिया। 'कबीर कसौटी' में इनके मगहर जाने और वहां मरने का वर्णन इन शब्दों में मिलता है—

पन्द्रह सौ पचहत्तर, किय मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, मिल्यो पौन में पौन॥

मरणानन्तर इनके शव के लिए इनके हिन्दू और मुसलमान शिष्यों में झगड़ा होने लगा। थोड़ी देर बाद मृत शरीर पर चद्दर उठाने पर वहां केवल फूलों का ढेर दिखलाई पड़ा। इसके दो हिस्से किये गये। हिन्दुओं ने अपने हिस्से के फूलों को लेकर समाधि बनाई। यह काशी में 'कबीर चौरा' नाम से अब भी पाई जाती है। मुसलमानों ने मगहर में एक क़ब्र में अपने हिस्से के फूलों को गाड़ दिया। यह क़ब्र अब तक मौजूद है। यह चमत्कार-पूर्ण मृत्यु कबीर के सिद्ध योगी होने के प्रमाणों में पेश की जाती है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि कबीर पढ़े-लिखे न थे। किन्तु उनमें प्रतिभा थी। आत्म-चिन्तन से उनकी अर्न्तदृष्टि खुल गई थी। उन्हें गुरु के उपदेश से सच्चा ज्ञान मिल गया था। उन्हें प्रायः ७५ ग्रंथों का रचयिता कहा जाता है। यह सब कविता में हैं। कबीर ने स्वयं इन्हें नहीं लिखा। भावावेश में उनके मुख से निकले हुए पद्य-बद्ध वाक्य उनके शिष्य लिख लिया करते थे। इन ग्रंथों में 'कबीर बीजक' मुख्य है। यही इनके सिद्धान्तों का सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ कहा जाता है। इसका संग्रह कबीर के शिष्य भग्गूदास ने किया था। इन ग्रंथों में प्रायः एक ही से विचार भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट किये गये हैं। 'बीजक' के अलावा 'सुखनिधान' का भी कबीर-साहित्य में अच्छा आदर है। इन ग्रंथों में कहीं-कहीं उच्च-कोटि की कविता भी मिल जाती है। कबीर का 'छायावाद' अथवा 'रहस्यवाद' पढ़ने और समझने के लिये दिल और दिमाग़

दोनों की ज़रूरत है। आजकल के 'छायावाद' में उसकी छाया तक नहीं है। अस्तु;

अब संक्षेप में कबीर के आध्यात्मिक विचार उपर्युक्त ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत किए जाते हैं।

कबीर के अनुसार ईश्वर सर्व-शक्तिमान् और सर्व-व्यापी है। वह एकेश्वरवादी थे। कहते हैं—

'साहब मेरा एक है दूजा कहा न जाय'

वह अद्वैतवाद की ओर झुके जान पड़ते हैं। प्रकृति, जीवात्मा आदि का अस्तित्व नहीं मानते। कबीर का ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों से परे है।

सरगुन की सेवा करो, निरगुग का करु ग्यान।
निरगुन सरगुन ते परे, रहै हमारा ध्यान॥

मूर्ति-पूजा की बुराई कबीर ने जी खोलकर की है। एक स्थान पर कहते हैं—

दुनिया ऐसी बावली, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहिकर पीसा खाय॥

यह महानुभाव अवतार, पैगम्बर, मुल्ला, पण्डित आदि की पूजा करना भूल कहते हैं। अवतार के विषय में आपका कहना है 'जो आता-जाता है वह माया है। परमात्मा काल की पहुँच से परे है। परम दयालु एवं अक्रोध को कच्छ, मच्छ रूप धारण कर संखासुर को मारने की क्या ज़रूरत थी?·········

दस अवतार ईश्वरी माया करता है जिन पूजा।
कहैं 'कबीर' सुनौ हो सन्तौ उपजै, खपै सो दूजा॥

इनकी रचना में 'राम' शब्द का प्रयोग अधिकता में मिलने से कुछ लोगों को यह अवतार-वादी प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु ऐसा समझना भूल है। इनके राम दाशरथी राम न थे। संसार की हर वस्तु में रमने वाला ही कबीर का राम है कहते भी हैं—

रमै घट-घटन में आपु न्यारा रहै पूर्व आनन्द है राम सोई और, दशरथ-सुत तिहुँ लोकन जाना, राम-नाम का मर्म है आना।

कबीर ईश्वर भक्ति और ईश्वरीय प्रेम पर विश्वास रखते थे। उनका कथन है—

और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै 'कबीर' पुकारि कै, भक्ति करौ तजि भर्म॥

भगवन्नाम का जप कबीर की समझ में अच्छा था। कहते हैं—
'अजपा जाप जपौ मनलाई, जाके जपे मिटै दुचिताई।'

कबीर के भक्ति सम्बन्धी विचार सखी-सम्प्रदाय के-से थे। आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पति मानकर इन्होंने पति-पत्नी सम्बन्ध के बहुत से रूपक कहे हैं।

कर्मकाण्ड पर इन महात्मा को विश्वास न था। इसके विरुद्ध इन्होंने बहुत कड़े शब्द इस्तेमाल किये हैं। आपका कहना है कि—

मूंड मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेइ मुँड़ाय।
बार-बार के मूंडते, भेड़ न बैकुण्ठ जाय॥

और, पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का सा खेल। इनकी राय में—

सांचो एक अल्ला का नाम, ताको झुक-झुक करो सलाम।
कह 'कबीर' कछु आन न कीजै, राम-नाम जपि लाहा लीजै॥

मुसलमान होकर भी कबीर ने अहिंसा की महत्ता स्वीकार की है। खाने के लिए अथवा धर्म के नाम पर जीव-बध करने वालों को इन्होंने खूब फटकारा है। कहते हैं—

दिन भर रोजा धरत हो, राति हनत हो गाय।
एक खून, यक बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय?

इस प्रकार मूर्ति-पूजा, कर्म-काण्ड आदि की निन्दा करते हुये कबीर ने एकेश्वरवाद, गुरु-गरिमा, जप, भक्ति, अहिंसा, सत्य आदि की आवश्यकता पर अपने विचार अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किये हैं। आपके हृदय में जो विचार उठते थे, उन्हें आप रोक नहीं सकते थे। बुराइयाँ देखकर आपका पारा चढ़ने लगता था। इनके विरुद्ध कभी-कभी तो यह बहुत अश्लील ढङ्ग से कह डालते थे। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर का व्यक्तित्व बहुत पवित्र और उच्च था। स्पष्ट वादिता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। वह पहुँचे हुये फ़कीर थे, अनुभवी सन्त थे, प्रतिभाशाली कवि थे, बुराइयों की अवहेलना न करने वाले उपदेशक थे और थे सर्वत्र परमात्मा की व्याप्ति अनुभव करने वाले, 'अनहद नाद' को व्यावहारिक जीवन में सुनने वाले सिद्ध योगी।

महाराणा प्रतापसिंह

जपूताने में मेवाड़ अब भी एक प्रसिद्ध राज्य है। उसमें राज्य करने वाले क्षत्रिय अपने को सूर्यवंशी कहते हैं। इस वंश में बहुत पराक्रमी राजा हो गये हैं। इनकी गाथाएं इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी हैं। बप्पा, मीर और सांगा हमारे गर्व के कारण हैं। इसी वीर-वंश में राणा प्रताप का जन्म हुआ था। इनके पिता उदयसिंह थे। यह राणा सांगा के पुत्र थे। इन्हीं राणा सांगा ने मुग़ल राज्य के संस्थापक बाबर के दांत सीकरी के युद्ध में खट्टे किये थे। इन संग्रामसिंह के वीरगति पा जाने पर चित्तौर की गद्दी पर इनका पुत्र उदयसिंह बैठा। उसमें पिता के वीरोचित गुण न थे। भोग-विलास में समय बिताया करता था। इसी के समय में बाबर का नाती अकबर दिल्ली का शासक हुआ। गद्दी पर बैठते समय मुग़ल राज्य बहुत छोटा था। अकबर के दिल में भारत का सम्राट् बनने की उमंग थी। उस समय राजपूताने में बहुत से शक्तिशाली राजा थे। बिना उनके जीते राज्य नहीं बढ़ सकता यह अकबर ने समझ लिया। उसने एक-एक करके जयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि प्रसिद्ध राज्यों को जीत लिया। कई राजपूत राजाओं ने अपनी बहन-बेटियां अकबर को ब्याह दीं। हिन्दू-मुस्लिम एकता का यह विचित्र नमूना! इन दिनों राजपूताने में चित्तौर का किला

सब से मज़बूत समझा जाता था। उसका राजा राजपूतों में सब से श्रेष्ठ माना जाता था। अकबर ने उसके लेने की तैयारी की। बड़ी भारी फ़ौज इकट्ठी की। धूमधाम से चढ़ाई कर दी। विलासी उदयसिंह की हिम्मत छूट गई। किला छोड़कर चला गया। पर राजपूत सरदारों में से बहुतों ने उदयसिंह के पिता वीरश्रेष्ठ संग्रामसिंह के साथ फतहपुर सीकरी का संग्राम किया था। वे कायर न थे। जयमल और सोलह वर्ष के नौ-जवान पत्ता ने नेतृत्व ग्रहण किया। जिस वीरता से यह दोनों वीर और इनके साथी लड़े उस पर हम आज भी गर्व करते हैं। परन्तु राजपूतों की संख्या मुग़ल सेना के सामने न के बराबर थी। अन्त में अकबर विजयी हुआ। असंख्य राजपूत मारे गये। अकबर की बहुत दिनों से संचित इच्छा पूरी हुई। वह शहर में विजय के अभिमान के साथ घुसा। वह खाली पड़ा था। एक चिड़िया भी न मिली। नामर्द उदयसिंह को चित्तौर पर फिर अधिकार करने का साहस न हुआ। उसने अरावली पर्वत की तरेटी में एक शहर बसाया। वह उदयपुर कहलाया। वहीं अपने जीवन के आखिरी चार वर्ष बिताये। सन् १५७२ में मृत्यु के अञ्चल में उसने अपना कलं-कित मुँह छिपा लिया।

इस उदयसिंह के सब से बड़े बेटे प्रतापसिंह थे। कहावत है कि भलो बुरे के होय सुत, बुरो भले के होय।' भले संग्रामसिंह के उदयसिंह जैसा बुरा पुत्र हुआ। लेकिन बुरे उदयसिंह ने भला प्रताप जैसा बेटा पैदा किया। संसार को यह अच्छी, दुर्लभ एवं अनोखी वस्तु भेंट चढ़ाकर उदयसिंह ने अपना

बहुत कुछ कलंक मिटा दिया। अस्तु, वंश-प्रथा के अनुसार उदयसिंह की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ कुमार प्रताप के मस्तक पर राज्य-तिलक हुआ। यद्यपि कामुक उदयसिंह अपने सब से छोटे पुत्र जगमल को उत्तराधिकार देकर मरा था, किन्तु राजपूत सरदारों ने प्रतापसिंह से वीर और वास्तविक अधिकारी के होते हुये उदयसिंह की भूल शीघ्र मिटा दी। प्रताप मेवाड़पति हुये। वह अपने पिता की कायरता देख चुके थे। चित्तौर का किला मुग़लों के अधिकार में था यह बात उनकी आंख की किरकिरी थी। उन्हें यह धुन सवार हुई कि चित्तौर पर फिर '.र्य-चिह्नांकित' पताका फहराना चाहिये। किन्तु उनके पास न तो लम्बा-चौड़ा राज्य था, न धन था और न बड़ी सेना। ऊपर कह चुके हैं कि उदयपुर, जोधपुर, बूँदी आदि के राजपूत राजा अकबर के गुलाम हो गये थे। एक समय था जब यह तथा दूसरे सब राजपूत नरेश चित्तौर की गद्दी की रक्षा के लिये चोटी से एड़ी तक का पसीना एक कर दिया करते थे, किन्तु इन दिनों यही मेवाड़पति के विरुद्ध अकबर को नई युक्तियां सुझा रहे थ। और तो और स्वयं प्रताप के सगे भाई शक्तसिंह और सागर वैयक्तिक द्वेष और ईर्ष्या के कारण अकबर से जा मिले थे। विभीषणों और जयचन्दों की कमी इस देश में न रही है और न आजकल ही है। इतनी विपरीत स्थिति होते हुये भी धैर्य के अवतार प्रताप विचलित न हुये। उन्होंने प्रण किया कि जब तक मैं चित्तौर पर फिर से अधिकार न कर लूँगा। तब तक सोने-चांदी के बर्तनों में भोजन न करूँगा, पलँग पर गुलगुले बिछौनों पर न सोऊँगा और न बाल बनवाऊँगा। इस प्रतिज्ञा के अनुसार

उन्होंने अपना शेष जीवन बिताया। मेवाड़ नरेश अब तक प्रकारान्तर से इन बातों को मानते हैं।

दृढ़ब्रती प्रताप ने देशोद्धार के लिए यह कठोर असिधारा ब्रत करके अपनी प्रजा को आज्ञा दी कि सब लोग राज्य छोड़कर जंगलों और पहाड़ों में रहें; उत्सव न करें, कोई ऐसी चीज़ पास में न रखें जिस पर मुसलमान शत्रु प्रलोभित हो सकें। इस आज्ञा का अर्थ यह था कि यदि कदाचित् हार हो जाय तो विजेता मुसलमान लूट के लिये कुछ न पा सकें और लड़ाई के दिनों में लोग घर-बार का मोह छोड़ दिल खोलकर लड़ सकें। इस आज्ञा के कारण मेवाड़ उजड़ गया। प्रताप ने कुम्भलनेर में अपनी राजधानी बनाई। क़िले दुरुस्त कराये। मुग़लों से मोरचा लेने की तैयारी आरम्भ हो गई। भील और राजपूत वीरों की सेना संचित और शिक्षित की जाने लगी। अकबर को इन बातों का पता था। वह प्रताप को पीस डालना चाहता था। वह था भी बड़ा कूटनीतिज्ञ। लोहे को लोहे से काटना वह अच्छी तरह जानता था। मियां की जूती मियां के ही सर पर लगाने की तरकीब उसने सोच निकाली।

ऊपर कह चुके हैं कि जयपुर में सब से पहले अकबर की दासता, नहीं-नहीं मित्रता, स्वीकार की थी। वहां के राजा मानसिंह की बहन जोधबाई अकबर की हरम की शोभा बढ़ा रही थी। मानसिंह बहुत वीर सैनिक था। उसने अकबर के लिए बहुत-से देश जीते थे। जिन दिनों प्रताप अकबर के विरुद्ध धीरे-धीरे तैयारी कर रहे थे मानसिंह दक्षिण में शोलापुर जीतकर दिल्ली लौट रहा था। अकबर के आदेश से वह मार्ग में प्रताप की राजधानी कुम्भलनेर में कुछ समय के लिये

रुक गया। शिष्टाचार और अतिथि सेवा मानों हिन्दुओं की बाँट पड़ गई है। राणा प्रताप ने राजपूत कुल में कलंक लगाने वाले मानसिंह का यथोचित स्वागत एवं सत्कार किया। भोजन की व्यवस्था की गई। राजकुमार अमरसिंह उस भोज में सम्मिलित हुआ। मानसिंह सारे व्यवहार से सन्तुष्ट हुआ। उसे एक बात खटक गई। वह थी राणा का स्वयं भोज में न आना। इसका असली कारण वह समझ गया। ऊपरी तौर से महाराणा के न आने का कारण पूछा। अमरसिंह ने बहाना किया कि उनके सर में दर्द है। इससे वह क्षमा चाहते हैं। मानसिंह में अभिमान का अभाव न था। उसने कहा अच्छा, यदि शीघ्र राणा के सर-दर्द की दवा लेकर न लौटा तो मेरा नाम मान-सिंह नहीं। राणा ने यह गर्वोक्ति सुन ली। झट आ गये और बोले—

> निज कुल की मरजाद लोभबस दूर बहाई।
> जीवन-भय जिन खोइ दई आपनी बड़ाई॥
> जिन जग सुख-हित करी जाति की जगत हँसाई।
> लखि तिनको मुख वीर सबै सिर रहे नवाई॥
> तिनके सँग खानो कहा ? मुख देखन हू पाप है।
> जाइ सीस वरु धर्म-हित यह सिसोदिया थाप है॥

(श्रीराधाकृष्णदास)

यह जातीय-अभिमान से पूर्ण उत्तर सुनते ही मानसिंह उठ खड़ा हुआ। अकबर के पास पहुँचकर उसने यह घटना बड़े दुःख के साथ सुनाई। अकबर ने दिखावटी क्रोध में प्रताप को उद्दण्ड व्यवहार का दण्ड देने की आज्ञा दी। वह पहले से सोच रहा

था कि किसी प्रकार प्रताप पर चढ़ाई करना चाहिए। मौका अच्छा मिला। राजपूत का नाश राजपूत के हाथों ही कराना ठीक है। मानसिंह के झूठे अभिमान पर ठेस लगी थी। उसने सेना सजाई। शाहजादा सलीम सेना का प्रधान नेता बनाया गया। कुछ इतिहासज्ञ कहते हैं कि सलीम इस समय ६-७ वर्ष का था। इससे वह इस युद्ध में शामिल नहीं हो सकता। यह कथन ठीक भी जँचता है। अस्तु; असंख्य मुग़ल सेना ने कूच कर दिया। प्रताप को समाचार मिला। उन्होंने अपनी शक्ति की नाड़ी देखी। मुट्ठी भर राजपूत सम्मुख युद्ध में थोड़ी देर तक ही ठहर सकेंगे—यह उन्हें मालूम था। अतः चतुर मंत्रियों की आमंत्रणा से यह निश्चय किया गया कि राजधानी के मार्ग में पड़ने वाली तंग हल्दीघाटी पर ही शत्रु से छेड़छाड़ शुरू कर दी जाय। उस संकीर्ण घाटी में थोड़े से सैनिक खुले मैदान के बहुत सिपाहियों का काम कर सकेंगे। मुग़ल सेना निश्चिन्तता से हल्दी घाटी में घुसी। सम्वत् १६३२ (सन् १५७६ ई०)के श्रावण की बात है। ऊपर से अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा होने लगी। कण्ठ और मुण्ड गिरने लगे। वीर शिरोमणि प्रताप ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी। 'चेतक का सवार' शत्रु-सेना को काई की तरह चीरता-फाड़ता आगे बढ़ने लगा। बहुत ढूँढ़ने पर भी विभीषण मानसिंह दिखाई न पड़ा। प्रताप उसी की खोज शत्रुओं को काटते निर्भय अपना चेतक बढ़ा रहे थे। उन्हें यह परवाह न थी कि उनके शरीर-रक्षक वीर साथ में थे वा नहीं। निडर चेतक ने सलीम के हाथी के मस्तक पर टापें रख दीं। हौदे पर युवराज बैठा था। साक्षात् यमराज स्वरूप ये रक्त से लदफद प्रताप को देखते ही उसके

होश उड़ गये। प्रताप ने अविलम्ब अपनी बर्छी सलीम पर चला दी। दैवात् वह हौदे से टकरा गई। पहला वार खाली गया। तलवार चमक गई। महावत ढेर हो गया। सलीम का काम तमाम होने में पल भर की देर थी कि हाथी विचलित हो गया। भाग खड़ा हुआ। इतने में युवराज को इस संकट में देख मुग़ल सेना अकेले प्रताप पर टूट पड़ी। चारों ओर से उन पर वार होने लगे। इसी बीच एक सैनिक राणा का छत्र एवं राज्य चिह्न उनसे छीनकर अपने ऊपर लगा लिया। मुग़ल सिपाही धोखा खा गये। उसकी ओर लपके। प्रताप को भाग निकलने का मौका मिल गया। उस स्वामिभक्त सरदार ने अपना शरीर स्वामी के लिये बलिदान कर दिया। वह वीर था भीलों का प्रमुख झाला राणा। धन्य !

इसके पश्चात् युद्ध करने के लिये राजपूत बच रहे। मैदान मुग़लों के हाथ रहा। मानसिंह की जीत तो हुई परन्तु वह प्रताप के सिर-दर्द की दवा का उपयोग करता ही रह गया। अस्तु; रणभूमि से लहूलुहान प्रताप अकेले बचे जा रहे थे। चेतक का शरीर भी घावों से पूर्ण था। इसी समय दो मुग़ल सैनिकों ने राणा को पहचान लिया। उन्होंने पीछा किया। प्रताप को इसकी खबर न थी। वे बहुत निकट पहुँच गए। दैवयोग से मार्ग में एक नदी पड़ गई। प्रताप ने चेतक के एड़ लगाई। दुश्मनों के देखते देखते घायल घोड़ा अपने घायल स्वामी को लेकर उस पार जा पहुँचा। उसने मुग़लों को वहीं ढेर कर दिया। आगे बढ़ कर उसने नीले घोड़े (चेतक) के सवार को पुकारा। राणा ने मुड़ कर देखा। वह उनका अनुज शक्तसिंह था। प्रताप के ऐसे महान् संकट में

देखकर शक्त के हृदय में भ्रातृ प्रेम उमड़ आया। उसने भाई होना सार्थक कर दिया। बहुत दिन से बिछुड़े दो भाई दिल खोल कर मिले। आँसुओं की धारा ने उनके हृदय का मैल धो दिया। इधर तो यह 'भरत-मिलाप' हो रहा था और उधर प्रताप का जीवन संगी चेतक मृत्यु से मिल रहा था। यह देख प्रताप बच्चों की तरह रो उठे। दोनों भाइयों ने चेतक को उसी स्थान पर गाड़ दिया। शक्तसिंह के घोड़े पर चढ़ कर प्रतापसिंह आगे बढ़े। इस भ्रातृ स्नेह के कारण आगे चलकर शक्तसिंह को मुगल-दासता से छुटकारा लेना पड़ा। फिर क्या था, प्रताप को अपना बिछुड़ा हुआ भाई मिल गया।

इस इतिहास प्रसिद्ध हल्दीघाटी के संग्राम के पश्चात् शीघ्र ही फिर से मुगलों की फौज आ धमकी। बचे खुचे राजपूतों को लेकर प्रताप ने उसका सामना किया। ऐसी बेमेल लड़ाई कब तक चल सकती है? अन्ततः प्रताप ने अपने इने-गिने साथियों को लेकर कुम्भलनेर के किले में शरण ली। वह भी घेर लिया गया। राजपूतों ने कुछ दिन बिना अन्न के काटे। आखिरकार किला छोड़ कर प्राण बचाना ही श्रेयस्कर समझा गया। प्रताप ने जंगल में भीलों का आश्रय लिया। मुगल-सेना चारों ओर फैली थी ही। प्रताप की खोज में अनेक गुप्तचर नियुक्त थे। इस लिए उनका एक स्थान पर रहना सुरक्षित न था। महाराणी और छोटे-छोटे बच्चों को लिए वह आज यहाँ हैं तो कल वहाँ। उनके सहायकों की संख्या बहुत कम रह गई। तुलसीदास ने ठीक कहा है, 'आपत् काल परखिए चारी, धीरज, धर्म, मित्र, अरु नारी।' प्रताप के इन चारों की परीक्षा हो रही थी। प्रताप खाने के लिए मुहताज थे, मेवाड़ेश्वर के

बच्चों को रूखी-सूखी रोटी तक नसीब न होती थी; उन के रहने के लिए एक झोपड़ी तक न थी; दिन-रात उन्हें अपने प्राणों की रक्षा के लिए बन-बन घूमना पड़ता था। कहा भी है कि 'छिद्रष्वनर्था वहुली भवन्ति'।

उतना होते हुए भी वीरवर प्रताप अपने व्रत से विचलित न हुए। इसी बीच एक ऐसी घटना हुई जिस से उनके हृदय को गहरी चोट लगी। महाराणी ने घास की रोटियाँ बनाई थीं। बालिका राजकुमारी के कलेवे के लिए एक रोटी पत्थर के नीचे ढक दी थी। अचानक एक बिल्ली उसे लेकर चलती बनी। यह देख क्षुधार्त्त कुमारी ज़ोर से चिल्ला उठी। राणा उस समय सो रहे थे। इस चीख ने उनकी नींद भंग कर दी। जब यह हाल ज्ञात हुआ तब उनका हृदय फट गया। वे कहने लगे कि मेरे बच्चों को इतना कष्ट! 'बस, अब नहिं जात सही!' जो वीर बरसों से घोर कष्ट की लगातार चोट खाते-खाते एक प्रकार से उसके सहने में अभ्यस्त हो गया था, वह बाल-बच्चों की इस हृदय-विदारक दुर्दशा से बौखला गया। राणा ने अकबर के पास सन्धि करने का प्रस्ताव भेज दिया। किन्तु इस दुर्बलता का असर बहुत दिन तक न रहा।

इस सन्धि की चर्चा को सुन कर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। उसको अपने चिरभिलषित मनोर्थ सफल होने की सम्भावना हो गई। मारे खुशी के उसने प्रताप का सन्धि-प्रस्तावक पत्र अपने दरबारियों को दिखाया। वीकानेर के राजा का अनुज पृथ्वीराज भी इन दरबारियों में से था। अकबर के यहाँ रहते हुए भी उसके हृदय में राजपूती जोश था। वह राणा प्रताप को अत्यन्त आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता

था। महाराणा की वीरता, देश एवं जाति प्रेम पर उसे गर्व था। प्रताप का पत्र देखकर उसे बहुत दुःख हुआ। उसने अकबर से कहा कि यह पत्र जाली है। भला आत्माभिमानी प्रताप कभी ऐसी दीनता दिखला सकते हैं? जब तक मैं स्वयं पत्र भेज कर राणा से इस विषय में पूँछ न लूँ इस पर विश्वास नहीं कर सकता। अकबर की अनुमति से उसने राणा को पत्र लिखा इस पत्र के कुछ दोहे मारवाड़ी भाषा में यह थेः—

पाताल राण प्रवाड मल, बांकी घड़ा विभाड़।
खूंदाड़ै कुण है खुरां, तो ऊँभा मेवाड़॥

भाव—विकट सेनाओं के विध्वंसक, हे युद्धवीर राणा प्रताप, तेरे रहते मेवाड़ को किसके घोड़े खूंद सकते हैं?

सह गावड़ियो साथ, एकड़ बाड़ै बाड़ियो
राण न मानी नाथ, ताड़ै सांड प्रतापसी।

भाव—हे अकबर, तूने गाय सदृश अन्य राजाओं को तो अपने बाड़े में कर लिया, लेकिन सांड प्रताप को नहीं नाथ पाया।

पाताल पाघ प्रमाण, सांझी सांगा हरतणी
रही सदा लग राण, अकबर सूं अभी अणी।

भाव—राणा सांगा के पौत्र की पगड़ी ही सच्ची पगड़ी है जो अकबर के सम्मुख सदा ऊँची रही।

हिन्दू पति परताप, पति राखो हिन्दु आणरी
सहो विपत संताप, सत्य सपथ करि आपनी।
पाताल जो पतसाह, बोलै मुखहू ना बयण
मिहर पछम दिस मांह, उगै कासप रावत।

अर्थात्—यदि प्रताप अकबर को स्वमुख से बादशाह कह दें तो निश्चय ही कश्यप के पुत्र सूर्य पश्चिम में उगने लगें।

पटकूं मूछां पाण, कै पटकूं निज तन करद
दीजै लिख दीवाण, इण दो महली बात इक।

इस लिए आप लिख भेजिए कि मैं अपनी मूछ पर हाथ फेरूं या शरीर के तलवार से टुकड़े टुकड़े कर दूं ?

इस पत्र ने प्रतापसिंह की नींद भंग कर दी। उनकी रगों में वही उत्साह फिर आ गया। उन्होंने लिख भेजा कि

तुरुक कहासी मुखपतो, इण तनसूं, इकलिंग
ऊगै जाहीं ऊगसी प्राची बीच पतंग।

इस लिए हे वीर पृथ्वीराज...

खुसी हूंत पीथल कमध, पठको मूछाँ पाण
पछकण है जेतो पतो कमला सिर के बाण

तुम खुशी से मूछों पर ताव दो जब तक प्रताप जीवित है उसकी तलवार यवनों के सर पर ही गिरेगी।

महाराणा प्रताप से ऐसे ही उत्तर की आशा की जाती है। पृथ्वीराज का मस्तक अकबर के सम्मुख ऊँचा हो गया। उसको यह सन्तोष हुआ कि कम से कम अभी एक सच्चा राजपूत तो है। इधर राणा ने कई गुना अधिक उत्साह के साथ तैयारी शुरू कर दी। लगातार अठारह वर्ष तक प्रबल शत्रु से लोहा लेते-लेते उनका धन, जन सब स्वाहा हो चुका था। अकबर की अधीनता स्वीकार करने के बजाय राणा ने विशेष सफलता होते न देख स्वदेश त्याग देने का विचार किया। प्रताप-पताका के नीचे फिर राजपूती और भील सेना इकट्ठी

होने लगी। बचे हुए भील और राजपूत उनके साथ चलने के लिए तैयार हो गये। इसी समय मेवाड़ का पुराना ख़जाञ्ची भामाशा उनसे मिलने आया। उनके चरणों पर अपना पीढ़ियों का संचित धन अर्पित कर दिया। प्रार्थना की कि इस धन की सहायता से एक बार और शत्रु का मुकालबा करने का सामान कर देखिए। यदि इस पर भी हमारी दशा ऐसी ही रहे तो फिर मेवाड़ छोड़ने का विचार कीजिएगा।

भामाशा ने सूखती हुई आशालता पर अमृत डाल दिया। युद्ध की पूरी तयारी की गई। इसका पता अकबर को न लग पाया। मुगल सेना निश्चिंत थी। अचानक एक दिन उस पर राजपूत टूट पड़े। 'जय श्री एकलिंग' और 'हर हर महादेव' से आकाश गूंज उठा। मुगलों ने पीठ दिखा दी। राजपूतों ने पीछा किया। कुम्भलनेर पर फिर अधिकार होगया।

इस प्रकार एक वर्ष के भीतर ही (१५८६ ई० में) प्रताप ने मुगलों के हाथ में गए हुए अपने ३२ किले छीन लिए। मुसलमान सेना उदयपुर छोड़ कर भाग गई। इस समाचार से अकबर बहुत दुःखी हुआ। अब दुबारा मेवाड़ लेना टेढ़ीखीर होगया। उसने प्रतापसिंह की वीरता, सहन कष्ट-सहिष्णुता और संगठनशक्ति की प्रशंसा की। सच्चे वीरों का सिक्का उनके विरोधी भी माना करते हैं।

मेवाड़ और उदयपुर तो प्राप्त होगए, किन्तु चित्तौर न मिल सका। यह चिन्ता प्रताप को मरते दम तक रही। यह काम पूरा करने के पहले ही उनके लिए स्वर्ग से बुलावा आगया। वहां देवताओं को उनकी आवश्यकता जान पड़ी। सम्मन लेकर यमराज आ पहुँचे। चित्तौर अभी तक शत्रु से

नहीं छुड़ा पाया—इस महाचिन्ता में प्रताप के प्राण प्रयाण नहीं करना चाहते। सरदारों, राजपरिवार के लोगों, मंत्रियों आदि का समूह मृत्यु शैय्या को घेरे अत्यन्त वेदना से मुँह लटकाए बैठा है। चन्द्रावन सरदार ने राणा से पूछा कि इस समय किस चिन्ता के कारण आपको अशान्ति है। प्रताप ने कहा कि अभी-अभी राजकुमार अमरसिंह के सर में यहां आते समय छप्पर के बांस और फूस लग जाने से वह बेचैन होगया है। मुझे भय है कि यह कष्ट न सहन कर सकेगा। यवनों का दास होजायगा। यदि मुझे विश्वास होजाय कि मेवाड़ पर मुग़लों का अधिकार न होने पावेगा तो मैं सुख से निश्चित होकर मर सकूं। उपस्थित सरदारों ने प्रण किया कि मरते दम तक हम मेवाड़ के गौरव की रक्षा करेंगे।

प्रताप को शांति मिली। वह अनन्त शांति के साम्राज्य को चले गए। वहां वीरांगनाओं ने उनपर फूलों की वर्षा की। इन्द्रलोक में उनको एक अनुपम और दिव्य स्थान मिला। सम्वत् १६५३ की यह बात है।

शाहन्शाह अकबर

सन् १५४० के बसन्त में शेरशाह ने हुमायूं को अन्तिम बार हराया हुमायूँ अपनी जान लेकर भागा। उसने हिन्दुस्थान छोड़ देने में ही कुशल समझी। उसके साथ कुछ अत्यन्त विश्वस्त साथी रह गए। इस विपत्ति में हुमायूं की संगिनी उसकी गर्भवती स्त्री भी थी। यह दल भागता हुआ सिन्ध पहुँचा। अमरकोट में १५ अक्टूबर, १५४२ को बेगम के गर्भ से एक लड़का पैदा हुआ। उसका नाम अबुलमुजफ्फर जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर रखा गया। हुमायूं अपना राज खो चुका था। उसके पास धन भी नहीं रह गया था। बालक के पैदा होने का समाचार सुनते ही उसे अपनी गरीबी पर बहुत दुःख हुआ। उस समय उसके पास एक कस्तूरी की थैली निकल आई। पुत्र के जन्मोत्सव में उसके साथी सम्मिलित हुए। हुमायूँ ने उन्हें थोड़ी-थोड़ी कस्तूरी भेट की। सबने आशीर्वाद दिया कि उसी कस्तूरी की सुगन्धि की भांति नवजात शिशु का यश संसार में फैले। थोड़े दिन बाद हुमायूं अपने भाई अस्करी मिरज़ा की शरण पहुँचा। वह कन्धार का सूबेदार था। अस्करी ने अपने भतीजे को बहुत आराम से रखा। फिर हुमायूं के दूसरे भाई कामरा ने, जो काबुल का शासक था, अकबर को अपने यहां बुलवा

भेजा। वहां बाबर की बहन खानज़ादा बेगम ने उसे बहुत प्रेम और सावधानी से रखा। इसी बीच हुमायूं ने काबुल पर हमला किया। कामरां ने बालक अकबर को किले की उन दीवारों पर बैठा दिया जिनपर गोलाबारी हो रही थी। हुमायूं ने यह देखकर गोली चलाना बन्द कर दिया। अन्ततः १५४७ में उसने काबुल पर अधिकार कर लिया। १५५४ में हुमायूं ने अफ़ग़ानिस्तान पर पूरा अधिकार कर लिया। अब वह अपने खोए हुए हिन्दुस्थान को फिर से प्राप्त करने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

इस बीच शेरशाह मर चुका था। उसका उत्तराधिकारी उतने लम्बे चौड़े राज्य को संभालने के योग्य न था। शेरशाह का पुत्र इस्लामशाह १५५४ में मर गया। तब राज्य के दो अधिकारी हुए मुहम्मदशाह आदिल और सिकन्दर। पहला चुनार में रहता था। सिकन्दर पंजाब में था। यह दोनों दिल्ली का राज्य लेने की तैयारी में थे।

हिन्दुस्थान में इस प्रकार की गड़बड़ी देखकर हुमायूं ने उस पर हमला करने का अच्छा मौका समझा। दिल्ली पर फिर हुमायूं का झंडा फहराने लगा। पंजाब का दमन करने के लिए हुमायूं ने अकबर और अपने विश्वस्त सेनापति बैरम खाँ को भेजा। उन्होंने सिकन्दर सूर का पीछा किया। वे पंजाब के विद्रोहियों को पूरी तौर से हरा न पाए थे कि उन्हें समाचार मिला कि सीढ़ी से फ़िसल कर हुमायूं अकाल ही मर गया। उन दिनों अकबर गुजरानवाला (पंजाब) में था। १४ फरवरी, १५५६ को ईंटों के एक चबूतरे पर, बैठा कर उसका राज्यतिलक किया गया। उस समय उसकी आयु १३ वर्ष ४ महीने की थी।

देखने में तो अकबर भारत का अधीश्वर बन गया, किन्तु वास्तव में उसके अधिकार में प्रायः कुछ नहीं था। काबुल पहले ही विद्रोही होगया था। दिल्ली और आगरे पर मुहम्मद आदिलशाह के प्रधान मंत्री और सेनापति हेमू ने अधिकार कर लिया। अकबर को यह समाचार मिला। उसने अपने मंत्रियों की सलाह ली। उनमें से अधिकांश की राय थी कि हिन्दुस्थान छोड़कर काबुल चले जाने में कुशल थी। लेकिन बैरमखाँ ने बिना सम्मुख युद्ध में अपनी शक्ति की परीक्षा किए लौटना नामर्दी समझा। अकबर को भी यही सलाह पसन्द आई। उसने दिल्ली लेने के लिए अपनी सेना चला दी। हेमू इस सेना का सामना करने को बढ़ा। पानीपत के प्रसिद्ध युद्ध-क्षेत्र में दोनों की मुठभेड़ होगई। ५ नवम्बर, १५५६ की बात है। हेम की पहले जीत होती जान पड़ी। परन्तु अकस्मात् उसकी आंख में एक तीर लग गया। वह घबड़ा कर भागा। बिना सेनापति की सेना के भी पाँव उखड़ गए। हेमू पकड़ कर अकबर के सामने लाया गया। बैरमखाँ के आदेश से अकबर काफ़िर दुश्मन का काम तमाम कर के 'ग़ाज़ी' बना। दिल्ली पर फिर मुग़लों का अधिकार होगया। आगामी दो वर्षों में बैरम खां ने अपने स्वामी के लिए ग्वालियर, अजमेर और जौनपुर जीते। शासन का वास्तविक अधिकार बैरम खाँ के हाथ में था। उसकी प्रभुता दिन पर दिन बढ़ती जाती थी। प्रजा के कष्ट का उसे ध्यान न था। दरबार के लोग भी उसके व्यवहार से असंतुष्ठ हो चले थे। अकबर की माँ, हमीदा बानू ने उसे शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने की सलाह दी। उसने ऐसा ही किया। और बैरम को

हज करने जाने की आज्ञा दी । बहुत आनाकानी के पश्चात् बैरमखां ने राज्याधिकार छोड़ा । फिर भी उसके हृदय से राज्य का लोभ न गया । पंजाब में उसने एक बड़ी सेना एकत्रित की और राजद्रोही बन गया । अकबर के साथियों ने उसे बुरी तरह हराया । क़ैदी बैरम ख़ां अकबर के सामने पेश किया गया । वह लज्जा के मारे गड़ा जा रहा था । अकबर ने उसकी पुरानी सेवाओं का विचार कर क्षमा कर दिया । बैरम मक्का के लिए रवाना हुआ । राह में उसे एक पठान ने मार कर अपने बाप का, जिसे बैरम ने मरवा डाला था, बदला लिया । अब अकबर १८ वर्ष की आयु में हिन्दुस्तान का असली शासक हुआ ।

गद्दी पर बैठने के बाद अकबर ने सोचा कि उसे थोड़े से मुसलमानों का राजा मात्र न रहना चाहिए । पठान बादशाहों ने मुसलमानों पर शासन करके ही सन्तोष किया था, इसी कारण उनका राज्य स्थायी न हो सका । हिन्दुस्थान में अधिकतर हिन्दू रहते हैं जब तक उनकी भक्ति और प्रेम पर अधिकार न होगा कोई राज्य इस देश में अधिक समय तक नहीं टिक सकता । यह सोच कर उसने हिन्दुओं के प्रति उदारता दिखलाना आरम्भ किया । उसने हिन्दुओं पर से जज़िया (धर्मकर) और 'फ़िदिया' (तीर्थ-कर) उठा दिए । इतना नहीं, उसने सोचा कि राज्य की नींव दृढ़ होने के लिए हिन्दू-मुस्लिम का विवाह-सम्बन्ध होना आवश्यक है । वह स्वयं इस काम में अग्रसर हुआ । आमेर के राजा बिहारीमल की बेटी जोधाबाई को उसने अपनी पत्नी बनाया । इसी के गर्भ से जहाँगीर का जन्म हुआ । तदनन्तर दूसरी राजपूत राजकुमारियाँ भी उसके महल में आईं ।

इस युक्ति से अकबर हिन्दू राजाओं से सम्बन्ध जोड़ रहा था। साथ ही वह यह भी जानता था कि बिना युद्ध के किसी देश पर अधिकार नहीं हो सकता। वह भारत का सर्व प्रधान बादशाह होना चाहता था। ऐसा तभी हो सकता था जब आस पास के स्वतंत्र राज्य नष्ट हो जाँय। अथवा उसकी आधीनता स्वीकार करलें। पहले-पहल उसने अपने 'कड़ा' के सूबेदार आसफ़ ख़ाँ को 'गोंडवाना' की प्रसिद्ध क्षत्राणी दुर्गावती की आज़ादी नष्ट करने की आज्ञा दी। रानी दुर्गावती का एकमात्र अपराध यह था कि वह स्वतंत्र थी। गोंडवाना बेरहमी से लूटा गया। रानी की मृत्यु हुई। इसके बाद अकबर की दृष्टि उदयपुर पर पड़ी। राज्य की नींव दृढ़ होने के लिए आवश्यक था कि उसके आधीन कई मज़बूत क़िले हों। ग्वालियर, चुनार और मेड़ता पहले ही जीते जा चुके थे। राजपूताने के कुछ राजा अकबर की प्रभुता स्वीकार कर चुके थे। उन दिनों भी चित्तौर के राणा का राजपूताने में सब से अधिक सम्मान था। वही एक ऐसे राजपूत राजा थे कि जिनको अपने आधीन कर लेने से अन्य राजाओं को जीतना आसान हो जाता। चित्तौर का किला भी उस समय बहुत मज़बूत गिना जाता था। अकबर ने उस पर धावा बोल दिया। २० अक्टूबर; १५६७ से २३ फरवरी १५६८ तक घेरा पड़ा रहा। उदयसिंह चित्तौर का राजा था। वह कायर निकला। किला अपने सर-दारों को सौंप आप पहाड़ों में जा छिपा। जयमल और पत्ता इन सरदारों में मुख्य थे। इनकी बीरता की कहानियाँ आज भी राजपूताने में बड़े सम्मान एवं अभिमान से कही जाती हैं। इत्तिफाक से एक रात शत्रु सेना के द्वारा की गई सुरंग को भर-

जाते समय जयमल अकबर की बन्दूक का निशाना हो गया। राजपूत हताश होगए। स्त्रियों ने 'जौहर' किया। वीर राजपूत ने केसरिया बाना धारण कर रणक्षेत्र में कूद पड़े। विजय श्री अकबर को मिली। इस प्रसिद्ध लड़ाई में ३०,००० राजपूत मारे गए। दूसरे साल, १५६६ में रणथम्भोर का क़िला भी अकबर के आधीन हो गया। इस तरह अकबर राजपूताने का स्वामी तो होगया, किन्तु मेवाड़ के राजपूतों ने, जिनमें महाराणा प्रताप अग्रणी थे, उसकी अधीनता कभी न स्वीकार की। जीते जी प्रताप ने अकबर को चैन न लेने दी। शत्रु होते हुए भी अकबर ने प्रताप की वीरता, दृढ़ता, संगठन-शक्ति, राजपूती आन और महानता स्वीकार की।

दो तीन वर्ष तक उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व दृढ़ करने के बाद १५७२ में अकबर ने गुजरात पर आक्रमण किया। वह स्वयं अपनी सेना का नेता था। युद्ध में उसने वीरता दिखलाई। गुजरात जीत लिया गया। अकबर अपनी राजधानी 'फतेहपुर-सीकरी' लौट आया। वह वहाँ पहुँचा ही था कि गुजरात में पुनः विद्रोह हो जाने का समाचार आया। उसे दबाने के लिए सम्राट् तुरन्त तैयार हो गया। थोड़े से 'साड़िनी' सवार साथियों को लेकर अकबर चल पड़ा। कोई ६०० मील का फासला ६ दिन में तय कर के अकबर अहमदाबाद पहुँचा। शत्रु को स्वप्न में भी ध्यान न आया था कि इतने थोड़े समय में दूरस्थ अकबर वहाँ पहुँच सकता था। वे दंग रह गए। २ सितम्बर १५७३ को अकबर की छोटी सी सेना ने विद्रोहियों को पराजित कर दिया। गुजरात पर मुगलों का पूरा सिक्का जम गया।

उधर बंगाल की आज़ादी भी अकबर को खटकती थी। उस पर हमला करने का बहाना सोच ही रहा था कि उसके नौजवान अफ़गान शासक दाऊद ख़ां खुल्लम-खुल्ला अकबर के विरुद्ध तैयारी करने लगा। अच्छा मौका हाथ लगा। १५७४ की वर्षा के दिनों वह दाऊद को दबाने के लिए निकला। ऋतु का ज़रा भी ख़याल न करके वह आगे बढ़ता गया। दाऊद को भागना पड़ा। १५७५ में उसकी हार हुई। उसके सेनापति ने अकबर की आधीनता स्वीकार कर के शक्ति संचय करने का अवकाश लिया। दूसरे वर्ष फिर युद्ध आवश्यक हुआ। इसमें दाऊद ख़ां मारा गया। तब बंगाल पर अकबर की पूरी प्रभुता छा गई।

इस विजय ने अकबर को अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक और हिमालय से नर्मदा तक के भारत का अधिपति बना दिया। इतने पर भी उसे सन्तोष न था। उसने १५८६ में काश्मीर के सुलतान को पराजित करके उसे अपने राज्य में मिला लिया। १५९१ में दक्षिणी सिन्ध पर मुग़लों का अधिकार हुआ। एक वर्ष बाद मानसिंह ने उड़ीसा जीता। १५९४ में बिलूचिस्तान और दूसरे साल कन्धार उसके हाथ लगे। इस प्रकार विस्तृत उत्तरी भारत में कोई ऐसा न रह गया जो अपने को स्वतंत्र कह सकता। अकबर की उमंग अब भी पूरी न हुई। वह अपने पूर्व-पुरुषों के देश, मध्य-एशिया का अधीश्वर होना चाहता था। साथ ही नर्मदा अपने राज्य की दक्षिणी सीमा नहीं रहने देना चाहता था। इस विचार से उसने दक्षिण की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध रियासतों, ख़ानदेश, अहमद नगर, गोलकुण्डा और बीजापुर अपने दूत भेजे। और यह

विचार प्रकट किया कि वे उसकी आधीनता स्वीकार कर के कर देने लगें। खान्देश ने तो यह स्वीकार कर लिया, किन्तु औरों ने अकबर की मांग पूरी न की। इसलिए उसने इनके विरुद्ध रणभेरी बजा दी। अहमदनगर की रक्षा सुल्ताना चाँदबीबी ने बड़ी वीरता से किया। उसने अकबरी सेना के दाँत खट्टे कर दिए। कुछ कारणों से उसे युद्ध से मुंह मोड़ना पड़ा। सन्धि हुई। बरार अकबर को मिला। लेकिन थोड़े दिनों के बाद फिर लड़ाई छिड़ गई। १६०० में चांदबीबी की मृत्यु हो गई। इसी वर्ष अहमद नगर अकबर के हाथ लगा। इसी दर्मियान खान्देश के सुल्तान ने अकबर के आधीन रहने से इन्कार कर दिया। अकबर ने स्वयं उस पर आक्रमण किया। खानदेश की राजधानी बुरहानपुर पर आसानी से कब्ज़ा कर लिया। परन्तु इस राज्य का सब से प्रसिद्ध और उस ज़माने का सब से दृढ़ किला असीरगढ़ लेना आसान न था। ६ महीने तक घेरा पड़ा पड़ा रहा। फिर भी अकबर की एक न चली। तब उसने कूटनीति से काम लिया। विश्वास दिलाकर उसने सुल्तान को अपने डेरे में बुलाकर कैद कर लिया। इस पर भी काम न चला। तब उसने सुल्तान के अफ-सरों को घूँस देकर फोड़ लिया। फिर क्या था। जो काम लोहा न कर सका वह सोने ने कर दिखाया।

इन नये सूबों की पूरी व्यवस्था करने के पहले ही अकबर को समाचार मिला कि युवराज सलीम जिसके हाथ में वह उत्तर भारत का अधिकार छोड़ आया था, बागी हो गया। वह झट उत्तर की ओर रवाना हुआ। सलीम ने अकबर के प्रसिद्ध मंत्री और मित्र अबुलफ़ज़ल को ओरछे के वीरसिंह देव से

मरवा डाला। यह समाचार सुनकर अकबर को हार्दिक दुःख हुआ। चालाक अकबर ने आश्वासन देकर सलीम को अपने पास बुला भेजा। आने पर उसे कैद कर लिया। कुछ समय बाद उसे पहले की तरह रखने लगा। फिर सलीम ने सिर नहीं उठाया।

प्रायः ५० वर्ष तक, इस प्रकार घोर तथा लगातार परिश्रम करते-करते अकबर के स्वास्थ्य को धक्का पहुँचा। सितम्बर १६०५ में उसे भयंकर 'पेचिश' हो गई। कहते हैं उसे ज़हर दिया गया। लेकिन इसका विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता। खैर, धीरे-धीरे यहां तक नौबत आई कि वह बोल न सकने लगा। अन्त में, १७ अक्टूबर को मौत का सन्देश आ पहुँचा। किसी समय के शक्ति-सम्पन्न सम्राट का मृत्यु पर कोई ज़ोर न चला।

अकबर के जन्म, गद्दी पर बैठने, राज्य का विस्तार करने एवं एक महान् साम्राज्य स्थापित करने का संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया जा चुका। वह केवल दूसरों को जीतकर अपना राज्य स्थापित करने वाला ही न था। राज्य स्थापित करके उसे दृढ़ करना भी जानता था। युद्ध क्षेत्र में लड़ने और राजदरबार में मंत्रणा करने के अतिरिक्त भी उसके कार्य-क्षेत्र थे। वह विद्या व्यसनी था, कवि था, कविता-प्रेमी था, कलाविद् था और तो और, उसे धार्मिक विषयों से भी प्रेम था। उसने अपना एक नया 'पन्थ' तक चला डाला था। इन विषयों पर कुछ लिखने के पूर्व थोड़े शब्दों में उसके व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ बातें बतला देना उचित प्रतीत होता है। उसका कद मंझोला था। शरीर गठा हुआ और बलिष्ठ था। रंग गेहुआँ

और आंखें सूर्य के प्रकाश में समुद्र की नाईं चंचल थीं। उसे क्रोध बहुत जल्द आया करता था। वह शांत भी शीघ्र हो जाता था। वह न्यायप्रिय था। जहाँ तक हो सकता। वह जल्दबाजी नहीं करता था। निर्दयता के कामों में उसे मज़ा नहीं आता था। उसकी बुद्धि बड़ी विलक्षण थी। हर काम वह आसानी से सीख सकता था। क्या घर, क्या राज-दरबार और क्या युद्ध-स्थल वह सर्वत्र चौकन्ना रहता था। मुश्किल से तीन घण्टे सोता था और थकना तो शायद जानता ही न था। पढ़ना-लिखना न जानते हुए भी सुन-सुनकर ही अकबर विविध विषयों का ज्ञाता हो गया था। उसकी धारणाशक्ति इतनी अच्छी थी कि कानों की सहायता से ही वह इतिहास, धर्म, काव्य आदि का पण्डित हो गया था।

धार्मिक विचारों में अकबर में मुसलमानों की सी कट्टरता न थी। बाल्यावस्था में ही उसे सूफ़ी सम्प्रदाय से परिचय हो गया था। कहा जा चुका है कि वह सारे भारतवर्ष में एक राज्य चाहता था। इसीलिए उसका सम्पूर्ण जीवन युद्ध करते बीता। इसी प्रकार वह धार्मिक एकता में भी विश्वास रखता था। उसकी अभिलाषा थी कि समस्त देश में एक ही धार्मिक विचारों के लोग हों। इस्लाम इस योग्य न था कि वह सब लोगों का धर्म हो सकता। इसलिए अकबर ने एक नया धर्म प्रचलित करने की आयोजना की। उसने फतहपूर-सीकरी में 'इबादत ख़ाना' नामक एक लम्बा-चौड़ा कमरा बनवाया। वहां प्रति सप्ताह ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, ईसाई, यहूदी, पारसी, मुसलमान आदि धर्मों के विद्वान् आया करते। वाद-विवाद होता। इस स्वतंत्र विचार-विनियम का परिणाम यह हुआ

कि अकबर ने 'दीन इलाही' नाम से अपना एक नया मजहब निकाला। यह धर्म आजकल की 'थियासोफ़ी' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। धार्मिक सहिष्णुता, दूसरे धर्मों की अच्छी बातों का सम्मान और उनका पालन, एक स्थान पर भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों का मिलकर बैठना—यह इस नये सम्प्रदाय की विशेषता थी। आगे चलकर अकबर को 'महन्त' कहलाने की विनाशकारी अभिलाषा पैदा हुई। उसने अपने को ईश्वर का 'खलीफ़ा' कहना शुरू किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यह धर्म उसके दरबार तक ही सीमित रह गया। उसके कुछ दरबारियों ने ही इसे स्वीकार किया। यह भी राजनीतिक विचारों के कारण न कि धर्म के ख़याल से। 'दीन इलाही' राज्य धर्म न हो सका और अकबर की मृत्यु के साथ संसार से लुप्त हो गया। अस्तु;

इस धार्मिक उदारता के कारण अकबर सच्चा गुण-ग्राहक हो सका था। हिन्दुओं में भी योग्यता, शूरता और राज्य करने की शक्ति होती है—यह कदाचित् मुसलमान बादशाहों में उसी ने पूर्ण रूप से देखा था। ऊपर कहा जा चुका है कि उसने राणा प्रताप की प्रशंसा की थी। यदि शत्रु न होता तो प्रताप का उसने उचित सम्मान भी किया होता। राजा भगवान दास, मानसिंह, टोडरमल, बीरबल आदि अन्य हिन्दुओं को उसने अपना मंत्री, सेनापति और विश्वासपात्र सम्मति-दाता बनाकर यह दिखला दिया कि विधर्मियों में से भी कुछ ऐसे व्यक्ति चुने जा सकते हैं जो राज्य की नींव दृढ़ करने में पूरी सहायता पहुँचा सकते हैं। राजपूत राजकुमारियों को अपने हरम की स्वामिनी बनाने की प्रथा चलाकर अकबर ने

बड़ी दूर-दर्शिता से काम लिया। उसकी आन्तरिक इच्छा थी कि हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर विवाह होने लगें। हिन्दू बालिकाएँ तो वह अपने यहां बुला सका, किन्तु मुसलमान युवतियों को हिन्दू राजाओं के महल में भेजने की चाल में वह सफल न हुआ। उसने धर्मान्धों की भांति हिन्दुओं को, अपनी बहन-बेटी व्याहने वाले राजपूतों को तलवार के ज़ोर से इस्लाम का अनुयायी नहीं बनाया। नतीजा यह हुआ कि राजपूत उसके राज्य के सच्चे सहायक हो गये। इन्हीं की बदौलत अकबर का स्थापित मुग़ल राज्य तीन पीढ़ियों तक सुदृढ़ बना रहा।

अकबर उदार स्वच्छन्द शासक था। उसका हुक्म ही क़ानून था। वैयक्तिक प्रभुत्व और लगान की वृद्धि करना उसका उद्देश्य था। इसीलिए उसने सेना बढ़ाई और लगान वसूल करने वाले अच्छे अफसर रखे। सूबे का हाकिम 'सिपह सालार' कहलाता था। अपने सूबे के भीतर उसकी शक्ति अपरिमित होती थी। उसके नीचे के अफ़सर जो युद्ध और राज्य-शासन दोनों काम करते थे, 'मन्सबदार' कहलाते थे। इनकी भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ होती थीं। अपनी-अपनी 'मन्सबदारी' के अनुसार इन लोगों को आवश्यकता पड़ने पर सेना राज्य की सहायतार्थ देनी पड़ती थी। इन लोगों को वेतन मिला करता था। जागीर नहीं दी जाती थी। अकबर की नियमित सेना बहुत कम थी। फौजदारी के मामले 'काज़ी' तय करते थे। कोई कानून का ग्रन्थ नहीं था जिसके अनुसार मुकदमों का फैसला किया जाता। 'काज़ी' की समझ पर सब निर्भय होता था। फिर भी जहां तक हो सकता था अकबर जाति एवं धर्म का ख़याल न करके न्याय करने पर ज़ोर देता था। राज्य की

पैमाइश अकबर ने अपने बुद्धिमान मंत्री टोडरमल के द्वारा करवाई थी। टोडरमल ने लगान की दर ज़मीन की क़िस्म के मुताबिक़ बांध दी थी। यथा सम्भव सीधे किसान से लगान वसूल किया जाता था। बीच में कोई दलाल न था। उपज का एक तिहाई हिस्सा लगान के तौर पर वसूल किया जाता था। इसका नतीजा यह हुआ कि किसानों से मनमाना लगान वसूल न किया जाने लगा और साथ ही राज्य की आय निश्चित हो गई, और पहले से अधिक भी हो गई। इसका श्रेय राजा टोडरमल को है।

ऊपर कुछ ऐसे लोगों का नाम लिया जा चुका है जो अकबर के अत्यन्त विश्वस्त मंत्री और सेनापति थे। इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे थे जिन्होंने राज्य-शासन के अलावा दूसरे क्षेत्रों में अकबर पर बहुत प्रभाव डाला था। इनमें दो भाई अबुलफ़ज़ल और फ़ैज़ी मुख्य थे। अकबर की धार्मिक उदारता इन्हीं के प्रभाव का फल था। यह दोनों भाई अत्यन्त विद्वान् थे। अबुलफ़ज़ल की स्मारक 'आईनेअकबरी' अब तक मौजूद है। इसे लिखकर वह अपने समय का इतिहास हमारे लिए छोड़ गया है। फ़ैज़ी फ़ारसी का बहुत अच्छा कवि था। इनके अलावा बदायूनी और निज़ामुद्दीन दो प्रसिद्ध इतिहास-लेखक भी अकबरी दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

इन लोगों के प्रभाव से अकबर ने 'ललित कलाओं' को भी प्रोत्साहित किया। अपढ़ होते हुए भी वह कवि था। उसके दरबार में कवियों और कविता-मर्मज्ञों का जमघट रहा करता था। हिन्दी का सुप्रसिद्ध कवि रहीम (अब्दुल रहीम खानखाना) उसके अभिभावक बैरामखां का पुत्र था। उसका

मुँह लगा मित्र बीरबल स्वयं अच्छा हिन्दी-कवि था। उसकी उपनाम 'ब्रह्म' था। नरहरि बन्दीजन एक और हिन्दी कवि अकबर के दरबार में रहता था। कहते हैं इसी के एक छप्पय ने अकबर से गो-बध बन्द करवाने की घोषणा निकलवाई थी। कविता के इस राज्याश्रय का परिणाम यह हुआ कि अकबर का राज्य-काल हिन्दी-साहित्य के लिये स्वर्णयुग कहा जा सकता है। उस हमारी भाषा में अनेक धुरन्धर कवि पैदा हुए थे। हमारे सर्व-श्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास अकबर के ही शासन-काल में अवतीर्ण हुए थे।

काव्य-कला के अतिरिक्त अकबर को 'चित्र-कला' में भी रुचि थी उसके समय में हिन्दू चित्रकारों पर फ़ारसी चित्र-कला का प्रभाव पड़ा था। इस सम्मिश्रण से एक नयी शैली चल पड़ी। इसे कला-विद् 'मुग़ल-कला' के नाम से पुकारते हैं।

वास्तु अथवा प्रस्तर कला ने भी अकबर की कृपा प्राप्त की थी। आगरे का लाल किला और फतहपुर-सीकरी के अनेक राजमहल और मस्जिदें तत्कालीन वास्तुकला के नमूने हैं। इनमें भारतीय और मुसलमानी कारीगरी का सम्मिलन देखा जाता है।

कवि का हृदय पाने वाले अकबर ने संगीत से प्रेम रखने वाले कान भी पाए थे। उसके समय का लोक प्रसिद्ध गवैया तानसेन उसका मित्र तथा राज्य-गन्धर्व था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पहुँचे हुये महात्मा एवं गायनाचार्य हरिदास स्वामी उन्हीं दिनों हुये थे। कहा जाता है कि एक बार अकबर हिन्दू वेष में तानसेन के साथ इन महात्मा का अलौकिक गान सुनने के लिये गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर में व्यक्तिगत और राजोचित अनेक गुणों का सामञ्जस्य था। उसने एक महान् साम्राज्य स्थापित किया। उसे भलीभांति दृढ़ किया; युद्ध क्षेत्र में वीरता दिखलाई; राज-दरबार में नीतिमत्ता और चातुरी प्रदर्शित की; धर्म-क्षेत्र में एक नई बात की; ललित-कलाओं में भी अपनी अभिरुचि और गति दिखलाई और यह सिद्ध कर दिया कि एक अपढ़ और हस्ताक्षर तक न कर सकने वाला व्यक्ति किस प्रकार जीवन के अनेक विभागों में कमाल दिखा कर अपना नाम अमर कर सकता है। इसीसे तो उसे 'महान् अकबर' कहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास

तुलसीदास का जन्म सम्वत् १५८९ में होना माना जाता है। काशी के प्रसिद्ध रामायणी श्री शिवलाल पाठक ने स्वरचित 'मानस-मयंक' में इनका संवत् १५५४ में पैदा होना लिखा है। यह महाशय गोस्वामी जी की शिष्य-परम्परा की चौथी पुश्त में हुए थे। थोड़े दिन हुये तुलसीदास जी के शिष्य बाबा वेणीमाधवदास का लिखा 'मूल गोसाईं चरित' मिला है। उसके अनुसार भी १५५४ में ही इस महापुरुष ने अवतार लिया था। 'गोसाईं चरित' में 'श्रावण शुक्ल सप्तमी' को तुलसीदास का जन्म होना अंकित है। इनके जन्म-स्थान के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग तारी, हस्तिनापुर, हाजीपुर आदि को इनकी जन्म-भूमि मानते हैं। किन्तु वेणीमाधवदास भी अधिक मान्य राजापुर (बाँदा) को ही तुलसी का आविर्भाव-स्थल कहते हैं। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का हुलसी था। यह सरयूपारीण ब्राह्मण थे। 'तुलसी परासर गोत, दुबे पति औजा के' प्रसिद्ध भी है। 'मूल गोसाईं चरित' में लिखा है कि पैदा होते ही बालक तुलसी में पांच वर्ष के लड़के के से चिह्न दिखाई पड़े। मुँह में पूरे दाँत थे। पिता ने इसे अनर्थकारी पुत्र समझा। पैदा होने के पाँचवें दिन हुलसी मर गई।

बालक के प्रति अपने पति के मनोभाव उसे ज्ञात थे। इसलिए मरने के पहले उसने बच्चे को अपनी 'चुनिया' महरी को सौंप दिया। चुनिया उसे अपने मायके ले गई। वहाँ ६५ महीने बीते। साँप के काटने से महरी मर गई। पाँच वर्ष का बालक अब पूरा अनाथ हो गया। भीख माँग कर पेट भरने लगा। इस दशा में दो साल बीते। नरहरिदास नामक साधु ने इस दशा में उन्हें देखा। अपने साथ ले लिया। मंगलवार, माघ सुदी पञ्चमी संवत् १५६१ में सरयू तट पर अयोध्या में उपनयन संस्कार किया। 'राममंत्र' सुनाया। फिर पाणिनि कृत सूत्र (अष्टाध्यायी) पढ़ाया। उनकी विलक्षण बुद्धि देखकर बहुत प्रसन्न हुये। तदनन्तर सरयू और घाघरा के संगम, सूकर क्षेत्र गए। वहाँ रामचरित्र सुनाया। तुलसीदास ने स्वयं भी लिखा है कि 'मैं पुनि निज गुरु सों सुनी कथा सो सूकर खेत।' कुछ समय पश्चात् नरहरिदास जी अपने प्रतिभाशाली शिष्य को साथ लिए काशी पहुँचे। वहाँ 'निगमागम परगामी' और ज्योतिष 'शेष सनातन' से भेंट हुई। उसने तुलसी पर 'रीझ' कर उन्हें 'चारों वेद, छहों दर्शन, इतिहास, पुराण, काव्यकला' आदि पढ़ाने के लिए माँग लिया। १५ वर्ष तक शेष सनातन के पास विद्याध्ययन करके पण्डित तुलसीदास अपनी जन्म-भूमि राजापुर गये। वहाँ एक भाट से अपने वंश के नष्ट हो जाने की दुःखद घटना सुनी।

तुलसीदास की विद्वता पर मुग्ध होकर 'तारिपतो' (शायद ताड़ी नामक प्रयाग के समीप यमुना तट पर स्थित गाँव के पति) एक ब्राह्मण ने इन्हें अपनी कन्या व्याह दी। कुछ लोग इनकी पत्नी का नाम रत्नावली कहते हैं। यह दीनबन्धु पाठक

की पुत्री थी। जो हो, तुलसीदास अपनी स्त्री को बहुत चाहते थे। इस पर वे 'दिन रात सदा रँगराते रहें, सुखपाते रहें, ललचाते रहें।' न तो स्वयं कहीं जाते थे और न उसे ही आँख से ओझल होने देते थे। एक दिन वह बिना बतलाये चुपके से अपने मायके चली गई। यह हाल मालूम होने पर तुलसीदास भी अपनी ससुराल के लिये चल पड़े। रात हो गई थी। नदी बढ़ी हुई थी। किसी तरह उसे पार किया। ससुराल पहुँचे। सब लोग सो गये थे। यह ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर ससुराल वालों को जगाने लगे। स्त्री ने स्वर पहचान लिया। दरवाजा खोल दिया। मिलते ही उसके मुँह से निकल पड़ा—

हाड़-माँस को देह मम, तापर जितनी प्रीति।
निसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटति भवभीति॥

पत्नी की इस साधारण कथन ने तुलसी की कामान्ध आँखें खोल दीं। उन्हें सच्ची आत्मग्लानि होने लगी। उलटे पाँव लौट पड़े। स्त्री ने बहुतेरा रोकना चाहा पर वे न रुके। उसे बहुत दुःख हुआ कि उसने अपने पति को घर से निकाल दिया। इसी ग्लानि में उसने प्राण त्याग दिये। यह आषाढ़ बदी दशमी, बुधवार, १५८९ की बात है।

घर से निकलकर तुलसीदास प्रयाग पहुँचे। वहाँ गृहस्थ का वेष त्याग दिया। विरागी हो गये। तदनन्तर चित्रकूट, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारावती घूमते हुए 'बदरीधाम' पहुँचे। फिर मानसरोवर, कागभुशुण्डि के आश्रम नीलाचल, और कैलाश की यात्रा की। इस प्रकार 'चौदह वर्ष दस महीने

और सत्रह दिन' तक तीर्थाटन करने के पश्चात् महात्मा तुलसीदास 'भव-वन' गये। वहाँ नित्य राम-कथा सुनाया करते। श्रोताओं में घिनौना रूप बनाकर हनुमान जी नित्य नियमित रूप से आया करते। यह भेद तुलसीदास को एक प्रेत से ज्ञात हुआ था। जिस बबूल के पेड़ में वह रहता था उसकी जड़ में तुलसीदास शौच के अनन्तर लाटे में बचा हुआ थोड़ा सा जल रोज छोड़ दिया करते। उससे प्रेत की प्यास बुझ जाती थी। एक दिन प्रकट होकर उसने उनसे इस उपकार के पश्चात् कुछ माँगने को कहा। उन्होंने श्रीराम के दर्शन करवा देने की इच्छा प्रकट की। प्रेत में यह सामर्थ्य न थी। परन्तु उसने उपर्युक्त छद्मवेशी हनुमान का रहस्य बतला दिया। एक दिन कथा हो जाने पर तुलसीदास ने उस मैले-कुचैले आदमी को पकड़ा। वह छूटने न पाया। बहुत आनाकानी की। परन्तु अन्त में उसे अपना असली स्वरूप स्वीकार करना पड़ा। निदान उसके आदेश से तुलसीदास राम-दर्शन की लालसा से चित्रकूट पहुँचे। वहाँ एक पर्व के दिन दो अलौकिक सुन्दर बालकों ने पयस्विनी के तट पर इनके हाथ से लेकर चन्दन लगाया। यह पहचान न पाये कि वही उनके इष्टदेव थे स्वप्न में हनुमान के बतलाने पर कि वही दोनों दशरथ-कुमार राम-लक्ष्मण थे तुलसीदास बहुत पछताए।

चित्रकूट प्रायः आठ वर्ष साधु-महात्माओं के समागम में व्यतीत किए। जान पड़ता है इस बीच तुलसीदास की साधुता की प्रसिद्ध चारों ओर हो गई थी। क्योंकि, वृन्दावन के स्वामी हित हरिवंश ने अपने शिष्य प्रियादास को जन्माष्टमी संवत् १६०६ का लिखा पत्र देकर उनके पास भेजा था। साथ ही

स्वरचित यमुनाष्टक, राधासुधा निधि और राधिकातंत्र नामक पुस्तकें भी भेजीं। तुलसीदास से यह आशीर्वाद चाहा कि उनके प्राण 'महारास' रात्रि को छूटें। इसी तरह प्रसिद्ध मीराबाई ने अपनी भक्ति साधना में घरवालों की लगातार बाधाओं से ऊबकर गोस्वामी जी को पत्र लिखा कि ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए। यह पत्र 'सुखपाल' ब्राह्मण लाया था। इसके उत्तर में तुलसीदास ने अपनी 'विनय-पत्रिका' का 'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिए ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम-सनेही'—नामक प्रसिद्ध पद लिख भेजा। यहीं उनसे मिलने के लिये संडीला के स्वामी नन्दलाल आए और सं० १६१६ में गोकुलदास के भेजने पर महाकवि सूरदास भी मिले। दो दिव्य आत्माएँ बड़े प्रेम से मिलीं। सूरदास ने अपने 'सूर-सागर' के दो पद गाकर सुनाये। तुलसीदास ने उन्हें अपने व्यवहार से सन्तुष्ट किया।

इन्हीं दिनों गोस्वामी जी ने राम-गीतावली और कृष्ण-गीतावली बनाई। कुछ समय के पश्चात् प्रयाग और अयोध्या होते हुये काशी पहुँचे। वहाँ संस्कृत में राम-कथा लिखने लगे। शंकर ने स्वप्न में कहा कि 'भाषा' में रामायण गाओ। तुलसीदास जाग पड़े। प्रत्यक्ष शिव-पार्वती के दर्शन हुए। महादेव ने समझाया कि देववाणी के पचड़े में मत पड़ो। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारी 'भाषा-भनिति' 'होइ है समसाम ऋचा सफला'। शंकर के आदेश से गोस्वामी अयोध्या गए। वहाँ एक सिद्ध-साधु के स्थान में ठहरे। केवल दूध पीकर रहा करते। दो वर्ष बाद संवत् १६३१ की रामनवमी, मंगलवार का शुभ दिन आया। 'रामचरित मानस' की रचना आरम्भ हो

गई। इसे कवि ने दो साल सात महीने और २६ दिन में समाप्त किया। उसे लेकर काशी पहुँचे। विश्वनाथ को सुनाया। रात में पोथी काशीश की मूर्ति के समीप रख दिया। प्रातः-काल उसमें शिव के हस्ताक्षर पड़े मिले। काशी के पण्डितों को अपने सम्मान में धक्का लगने की आशंका हुई। उन्होंने मानस के चुरवाने सौर तुलसी को तांत्रिक प्रयोगों से मरवा डालने के गुप्त आयोजन किए। पर सफलता न मिली। तत्का-लीन प्रसिद्ध अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती ने इस ग्रन्थ को पढ़ा। मुग्ध होकर यह श्लोक लिख भेजा—

आनन्द कानने कश्चिच जंगमस्तुलसी तरुः
कविता मंजरी यस्य राम भ्रमर भूषिता।

इसके अनन्तर काशी के पण्डित-समाज में तुलसीदास की धाक जम गई। तत्पश्चात् सं० १६४० में 'दोहावली' बनाया और मार्ग शीर्ष शुक्ल सप्तमी १६४१ को वाल्मीकि रामायण का नक़ल करना समाप्त किया। यह प्रति गोस्वामी जी के हस्ताक्षरों सहित आजकल भी काशी के सरस्वती पुस्तकालय में रखी है। फिर तीर्थों की यात्रा करने निकले। इन दिनों इनके चमत्कारपूर्ण काम किए जाने प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक मुरदे का जिलाना, पत्थर के नाँदिए का एक हत्यारे के हाथ से प्रसाद खाना और कवि केशवदास को प्रेत-योनि से छुड़ाना मुख्य हैं। और कृष्ण मूर्ति का रामरूप में तुलसीदास को दर्शन देने वाली घटना इनके अनन्य राम-प्रेम को सूचित करती है।

इस प्रकार अपने जीवन की अमूल्य घड़ियाँ तीर्थाटन, साधु-समागम, भवद्गुणगान, परोपकार, सदुपदेश में व्यतीत

करने वाले तुलसीदास के ऐहिक जीवनोद्देश (Mission of Life) के समाप्त होने का समय आ पहुँचा। उनकी 'कविता-वली' के कुछ अन्तिम छन्दों से पता चलता है कि संवत् १६६५ और ८५ के बीच काशी में महामारी का भीषण कोप हुआ था। इन कवितों से यह भी मालूम होता है कि पहले इनकी बाँह में पीड़ा हुई, फिर कोख में गिलटी निकली। दर्द बढ़ता गया। ज्वर आने लगा। जन्त्र, मंत्र, टोटका, पूजा, पाठ, दवा-दारू, सब किया। कुछ लाभ न हुआ। जीवन की आशा न रह गई। बीमार तुलसी ने गंगा किनारे डेरा डाल दिया। सम्भव है अन्त समय उन्होंने क्षेमकरी चिड़िया के दर्शन किये हों। उसी को देखकर कवितावली की यह अन्तिम सवैया लिखी गई जान पड़ती है।

कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचन्द सो चन्दन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विचार हरी है॥
गौरी कि गंग विहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखु सपेम पयान समै सब सोच विमोचन छेमकरी है॥

महा प्रस्थान का समय आ जाने पर कवि सम्राट् ने यह अन्तिम दोहा पढ़ा—

राम-नाम-जस बरनि के, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अबही तुलसी-सौन॥

और अपने प्रभु के साकेत लोक चले गये। गोस्वामी जी की मृत्यु तिथि के विषय में नीचे लिखा हुआ दोहा कहा जाता है—

संवत् सोलह सै असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

यह महानुभाव स्मार्त वैष्णव थे। राम इनके इष्ट-देव थे।

वही इनके सर्वश्रेष्ठ देवता थे। यह बहुदेव-उपासक न होते हुये भी उदार-हृदय थे। अन्य देवों की भी इन्होंने अपने ग्रन्थों में स्तुति की है। किन्तु सब को राम के आश्रित ही माना है। इन स्तुतियों में तुलसीदास ने हर किसी से राम की भक्ति माँगी है। इतने उदार होते हुये भी इन्होंने भूत-प्रेतादि की पूजा की निन्दा की है। मोक्ष की प्रस्तुति के लिये गोस्वामी जी ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी है। यह सगुण उपासक थे और नव प्रकार की भक्ति के द्वारा ही ईश्वर साक्षात्कार करना मानते थे। भगवन्नाम जप की इन्होंने बहुत आवश्यकता बतलाई है। 'रामचरित-मानस' में एक स्थान पर इन्होंने राम-नाम को स्वयं राम से श्रेष्ठ सिद्ध किया है।

तुलसीदास कट्टर मर्यादावादी थे। हिन्दू-जनता में मुसलमानों के प्रभाव से आई हुई उच्छृङ्खलता को दूर करने के लिये इन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र बड़ी सरल और ज़ोरदार भाषा में लोगों के सामने रखा था। इन्होंने जनता को कोई नई बातें नहीं बतलाईं। हिन्दू-धर्म की लोकमान्य बातें ही उनकी ऊपरी विषमता को दूर कर संसार के सामने रखीं। शिव को राम का और राम को शिव का उपासक बतलाकर गोस्वामी जी ने उस समय का शैव-वैष्णव विरोध बहुत कुछ दूर किया था। सगुण उपासना की महत्ता बतलाकर इन्होंने जनता सुलभ मार्ग दिखलाया था। इन उपदेशों के प्रभाव से हिन्दू-जाति अपना अस्तित्व गोस्वामी जी के कुछ दिनों बाद के घोर विधर्मी अत्याचारों के होते हुये भी रख सकी थी। इस प्रकार हिन्दुओं पर तुलसीदास का अतुल ऋण है। इसी से यह हिन्दू-धर्म के संरक्षकों में गिने जाते हैं।

सच्चरित्र, महात्मा और धर्मोपदेश तुलसीदास उच्चकोटि के कवि भी थे—यह उनकी ऊपर लिखी हुई जीवनी पढ़ते समय जान पड़ा होगा। इनके रचे हुये कुछ ग्रन्थों का नाम लिया जा चुका है। उनके अलावा और भी बहुत से हैं। सब मिलकर इनके रचे हुये निम्नांकित ३५ ग्रंथ कहे जाते हैं :—

(१) रामचरित-मानस (२) कवितावली (३) गीतावली (४) दोहावली (५) विनय पत्रिका (६) रामाज्ञा (७) रामलला नहछू (८) जानकी मंगल (९) पार्वती मंगल (१०) बरवै रामायण (११) वैराग्य-संदीपिनी (१२) कृष्ण गीतावली (१३) रामसतसई (१४) संकट-मोचन (१५) हनुमान बाहुक (१६) राम सलाका (१७) छन्दावली (१८) छप्पय रामायण (१९) कुण्डलिया रामायण (२०) कड़खा रामायण (२१) रोला रामायण (२२) झूलना रामायण (२३) हनुमान चालीसा (२४) कलिधर्माधर्म निरूपण और (२५) पदावली रामायण। इनमें से पहले बारह ग्रंथ में उनकी काव्य प्रतिभा पूर्णरूप से दिखाई पड़ती है। शेष ग्रंथों में कुछ तो बहुत छोटे और साधारण हैं, कुछ का अभी तक पता नहीं चला और कुछ किसी अन्य कवि के बनाये हुए कहे जाते हैं। इन ग्रन्थों में तुलसीदास ने कई भिन्न-भिन्न उपभाषाओं का सफल प्रयोग किया है। जानकी, और पार्वती मंगल, रामलला नहछू की भाषा पूर्वी अवधी है। रामचरित-मानस में प्रधानतया पश्चिमी अवधी दिखलाई पड़ती है। गीतावली और विनय पत्रिका में व्रजभाषा की मिठास है। बुन्देलखण्डी, बैसवाड़ी आदि की भी झलक मानस में मिलती है। इससे गोस्वामी जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार प्रकट होता है।

ऊपर दी हुई ग्रंथ सूची पढ़ने से पता चल सकता है कि तुलसीदास ने अधिकतर भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न छन्दों में, रामचरित्र का ही वर्णन किया है। राम का चरित्र उन्हें जनसाधारण में व्यापक बनाना था। इसी कारण उन्होंने बहुत सी प्रान्तीय बोलियों में रामकथा कही है। श्रीराम-चरित्र वर्णन के अरिरिक्त गोस्वामी जी परमवष्णव शिव-पार्वती की विवाह-कथा (पार्वती मंगल में) और श्रीकृष्ण-चरित्र (कृष्ण-गीतावली में) भी लिखा है। कवितावली के कुछ अन्तिम पद्यों को छोड़कर केवल एक और ग्रन्थ ऐसा मिलता है जिसमें तुलसीदास ने अपने विषय में कुछ लिखा हो। यह ग्रन्थ है 'विनय-पत्रिका'। इसमें तुलसीदास का अभ्यन्तर खुला हुआ दिखलाई पड़ता है। इसमें अपनी बुराइयों का पूरा चिट्ठा, अपनी दीनता का स्पष्ट खजाना कवि ने अपने उदार, क्षमाशील, भक्त-भावन, अकारण दयालु और परम-शक्तिशाली स्वामी के लिए तैयार किया है। इसके अन्त के दो पदों से ज्ञात होता है कि उस स्वामी ने भरी सभा में तुलसीदास की 'विनय की चिट्ठी' स्वीकार करके, उसमें अपने हाथों से 'सही' करके उन्हें अंगीकार कर लिया था। इस ग्रंथ में कवि के दैन्य एवं प्रेमोद्गार के साथ ही श्रीराम के औदार्य पर अनेकों सुन्दर पद हैं। कितनी ही सूक्तियाँ हैं। राग-रागनियों से तो यह ओतप्रोत है। अनेकों गान-विद्या विशारद कवि के इस राग-पाण्डित्य पर मुग्ध हैं। संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली और ब्रजभाषा की मधुरिमा का इसमें बाहुल्य है। विद्वानों ने एकमत होकर कहा है कि संसार की अन्य किसी भाषा में 'विनय-पत्रिका'

की जोड़ का आत्म-दैन्य और विनय विषयक कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

किन्तु गोस्वामी जी ने इन सब सुन्दर और सरस काव्यों में से अकेले 'रामचरित-मानस' भर की ही रचना की होती तब भी कविता एवं भक्ति के संसार में उनका आज का सा सम्मान रहता। कम पढ़ी-लिखी साधारण जनता एकमात्र 'रामचरित-मानस' के कारण तुलसीदास को अपने गले का हार बनाये हुये है। कवि के ही शब्दों में यह विश्व-व्यापक ग्रन्थ, नाना पुराण निगमागम सम्मत है। इसमें एक तो लोक-रंजन करने तथा स्फूर्ति देने वाली एक दिव्य कथा कही गई है और दूसरे उस कथा को तुलसी-जैसे प्रकृत कवि एवं अनेक भाषाविद् की लेखनी का सहारा मिला है, इसीसे इसका इतना अधिक प्रचार है। कदाचित् ही कोई हिन्दी भाषा जानने वाला हिन्दू घर मिले जहां तुलसी की सुधामयी रामायण का आदर एवं पाठ न होता हो। राजा से लेकर रंक तक, साहित्य के दिग्गज विद्वान से लेकर क-ख पहचान सकने वाले तक, धनी से लेकर गली-गली भीख मांगने वाले भिखारी तक सभी तुलसी का 'मानस' बड़े चाव, आदर, और प्रेम से नित्य पढ़ा करते हैं। भारत की दूसरी प्रान्तीय भाषाओं का तो कहना ही क्या फारसी, अँगरेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी 'रामचरित मानस' के अनुवाद हो गये हैं। उन भाषाओं के साहित्यिक इसे संसार-साहित्य का श्रृङ्गार समझते हैं। इसकी सब से बड़ी विशेषता तो यह है कि इसमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की बातें मिलती हैं। उन्हें लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पसन्द करते हैं। काव्य के प्रेमी इसमें उच्च-कोटि की कविता,

मनोहर उक्तियाँ, और अलौकिक काव्य-चमत्कार पाते हैं; साहित्य शास्त्री को इसमें महाकाव्य के गुण तथा अलंकारों से भरे हुए अनेकों वर्णन मिलते हैं; भाषा-विज्ञानी रामचरित-मानस में कई भाषाओं के सुन्दर उदाहरण पाता है; व्याकरण-विद् को इसमें व्याकरण के नियमों को पूर्ण प्रकार से पालन करने वाला अवधी भाषा का अलभ्य ग्रंथ मिलता है; राज-नीति, और समाजनीति के विद्यार्थी इसमें अपने-अपने विषयों के उत्तम उदाहरण पाते हैं; और इन सब दुनियादारों से अधिक एक भक्त को 'रामचरित-मानस' अनन्त आत्म-शांति, दैवी सुख और मुक्ति का साधन प्रदान करता है। प्रकाण्ड पण्डित जहाँ रामायण की एक-एक चौपाई के सात सौ से भी अधिक अर्थ करके उसमें काव्य चमत्कार देखते हैं, वहीं गाँव-गाँव में जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उपयुक्त होने वाली अनेकों चौपाइयों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करने वाले गँवार भी मिला करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि तुलसीदास की रामायण ने हमारे जीवन तंत्री की प्रत्येक तार को बजाया है, और बड़े सुन्दर, प्रिय और आकर्षक स्वर में बजाया है।

तुलसीदास सफल कवि थे इसमें सन्देह नहीं। वे स्थायी साहित्य के निर्माता थे—यह भी सत्य है। उनको इस संसार से गये हुए तीन सौ वर्ष से अधिक हो गए और उनके ग्रन्थों, विशेषतया रामचरित-मानस का प्रचार एवं प्रसार विद्या तथा ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता ही जाता है। इस शुभाशी के चिह्न को देखकर कहना पड़ता है कि उनकी कृतियाँ अकाल-बाधित, अमर हैं। साहित्य-संसार में उनके ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। लोगों को उनमें नित्य नवीन

आनन्द आता है। इसी लोकोत्तर आनन्द प्रदायिनी रचना के कारण गोस्वामी जी हिन्दी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। यह हमारी भाषा के काव्य-गगन के चन्द्रमा माने जाते हैं जिसकी शीतल एवं तापहारिणी कविता-कौमुदी संसार-ताप-तापित प्राणियों को सुधादान दिया करती है।

पीयूष-वर्षी कवि तुलसीदास निष्ठावान साधु, निस्पृह सन्त, सदाचारी महात्मा और अनन्य भक्त थे। यह साहित्य संसार में अद्वितीय कवि के नाम से चिरकाल पर्य्यन्त सम्मानित होते रहेंगे, और भक्तों की मण्डली में पहुँचे हुए महात्मा की भांति पूजे जावेंगे। जब तक पृथ्वी पर भगवान् राम का नाम रहेगा तब तुलसी का नाम भी अमर रहेगा—यह अतिशयोक्ति नहीं है।

छत्रपति शिवा जी

वाजी के पूर्वज उदयपुर के महाराणा के वंशज थे। इनके पिता शाहजी और माता जीजी बाई थीं। शाहजी अहमद नगर के नवाब के यहां मनसबदार थे। यह अत्यन्त बुद्धिमान, गुणी और चतुर थे। इन्होंने वीरता में भी अच्छा नाम पैदा किया था। जिन दिनों यह मुग़लों से लड़ रहे थे उन्हीं दिनों सन् १६२८ ई० में बम्बई प्रान्त के शिवनेरी नामक क़िले में शिवा जी का जन्म हुआ। जब यह बच्चे ही थे तो इनकी मां मुसलमानों के हाथ पड़ गईं। किन्तु उन्होंने चालाकी से शिवाजी को यवनों के कब्जे में न आने दिया। छः वर्ष तक बालक शिवाजी को अपने पिता के दर्शन नहीं हुए। जिन दिनों शाहजी बीजापुर दरबार में थे मुरार पन्त ने एक दिन बालक शिवाजी से कहा कि आओ हमारे साथ बादशाह को सलाम करने चलो। शिवा जी ने गो-ब्राह्मण के शत्रु विधर्मी बादशाह को सलाम करना तो दूर रहा उसके पास तक जाना स्वीकार न किया। जब किसी प्रकार समझा बुझाकर वे दरबार में लाए गए तो बिना सलाम या मुजरा किए ही जा खड़े हुए। इस हिम्मत से 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत की याद आ जाती है।

लड़कपन में शिवाजी की देखरेख दादाजी कोंडदेव नामक शाहजी के एक विश्वस्त सेवक के सिपुर्द थी। दादा जी शाहजी की जागीर का भी प्रबन्ध करते थे। उन्होंने जमीन्दारी के कामों में लगे रहने पर भी शिवा जी की शिक्षा-दीक्षा में किसी तरह कमी नहीं होने दी थी। उन दिनों पढ़ना-लिखना सीखना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। परिस्थिति की आवश्यकतानुसार अस्त्र-शस्त्र चलाना युद्ध-कौशल, घोड़े की सवारी आदि के सीखने को अधिक महत्व दिया जाता था। शिवाजी थोड़ी उम्र में ही घोड़े की सवारी और शस्त्र-प्रयोग में चतुर हो गए। निशाना तो उनका अचूक लगता था। भाला और तीर चलाने में उनकी जोड़ का दूसरा नवयुवक न मिलता था। दादा जी ने उन्हें शिष्टाचार की भी शिक्षा दी। छुटपन से ही शिवाजी को रामायण, महाभारत और पुराणों की कहानियां सुनने का बहुत शौक था। धर्म में अटल निष्ठा पैदा हो गई थी। ज़रा बड़ा होने पर इन्होंने जागीर के प्रबन्ध की देखभाल कोंडदेव के साथ करना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इन्हें राज्य व्यवस्था की भी बहुत सी बातें ज्ञात होने लगीं। साथ ही इनकी प्रवृत्ति स्वच्छन्दता की ओर अधिक थी। किसी के वश में रहना उन्हें मालुम न था। शाहजी की जागीर में कोई किला न था। उन दिनों बिना किला के आज़ादी और इज्ज़त की रक्षा हो सकना बहुत कठिन था। शिवाजी के मन में रह-रहकर यह उमंग जोर मारने लगी कि किसी प्रकार किसी किले पर अधिकार करना चाहिए। उन्होंने पूना के समीप 'तोरन' के किलेदार से दोस्ती पैदा की। वह उन्हें अपना किला दे देने के लिए तैयार होगया। सन् १६४६ ई० में इस

किले पर शिवाजी का अधिकार होगया। इस समय उनकी आयु उन्नीस वर्ष की थी। सौभाग्य से इस किले में, खोदाई करते समय, बहुत सा गड़ा हुआ धन शिवाजी के हाथ लगा। इससे उन्होंने अस्त्र-शस्त्र खरीदने और युद्ध की आवश्यक सामग्री खरीदना आरम्भ किया। साथ ही उन्होंने 'तोरन' के दक्षिण-पूर्व ६ मील की दूरी पर, लहोब्दी की पहाड़ी पर एक दूसरा किला बनवाना आरम्भ किया। इसका नाम राजगढ़ रखा। यहीं उनकी राजधानी स्थापित हुई।

बीजापुर के नवाब को शिवाजी के इन कामों की खबर मिली। उसने उन्हें अपनी इस तरह की हरकतों से बाज़ आने की सूचना दी। शाहजी को लिख भेजा कि अपने लड़के को उच्छृङ्खलता से रोकें। शाहजी ने नवाब को तो उत्तर दे दिया कि हम लोग राजभक्त हैं। जो कुछ करते हैं, राज्यहित की दृष्टि से करते हैं। किन्तु दादा जी कोंडदेव को शिवाजी के इस काम पर अपनी अप्रसन्नता की सूचना दी। और कहा कि उन्हें भविष्य में ऐसे कामों से रोकें। एक ओर तो स्वतंत्र विचार थे जो राज्य बढ़ाने और धर्म रक्षा की लालसा बढ़ा रहे थे, दूसरी ओर पिता की आज्ञा। शिवाजी बड़े असमंजस में पड़ गए। उनकी धर्म पत्नी ने भी उनके विचारों का समर्थन किया। शिवाजी स्वभाव से ही बड़ों का आदर करते थे। किन्तु अपने विचारों के वह बहुत पक्के थे। इन्हीं दिनों दादा जी की मृत्यु होगई। मरने के पहले उन्होंने शिवाजी को जो उपदेश दिया वह आज भी नई स्फूर्ति पैदा करता है। वह बोले कि बेटा सदैव स्वतंत्र होने की चेष्टा करना, गो-ब्राह्मण और प्रजा की रक्षा करना, मंदिरों को नष्ट न होने देना और

यश प्राप्त करना। इस उपदेश ने शिवाजी की नसों में और भी उत्साह भर दिया।

अब शिवाजी स्वयं पिता की जागीर का प्रबन्ध करने लगे। इनके पिता की नौकरी में 'सूपा' प्रान्त का हाकिम सम्भाजी मोहिले इनके विरुद्ध रहता था। उसे बहुत समझाया बुझाया। जब वह ठीक राह पर न आया तो इन्होंने उस पर चढ़ाई करके उसे कैद कर लिया। इन्हीं दिनों उन्होंने इस प्रान्त के दो प्रसिद्ध किलों पर अधिकार किया।

इस प्रकार शिवाजी के मन में आज़ाद होकर स्वयं राज्य करने की भावना प्रबल हो चली। उन्होंने धीरे-धीरे फौज इकट्ठा करना आरम्भ किया। उसे लड़ाई के दांव-पेच, हथियार चलाना आदि सिखाने का प्रबन्ध किया। साथ ही कोकन में अपने कुछ चतुर आदमियों को भेजकर वहां के निवासियों को भीतर-ही-भीतर मुसल्मान शासक के विरुद्ध भड़काने की व्यवस्था भी की। संयोगवश इसी समय 'कल्याण' के सूबेदार अहमद ने एक बड़ा खजाना विहार भेजा। शिवा जी को इसकी ख़बर मिल गई। उन्होंने बीच में ही इसे लूट लिया। इनके सेना-नायक आवाजी सोमदेव ने अहमद को क़ैद कर लिया। बहुत से प्रसिद्ध और मजबूत किले जीत लिए। शिवाजी ने 'कल्याण' की जनता को किसी प्रकार का कष्ट न होने दिया। अहमद के साथ भी उन्होंने शिष्टता की। वह कैद से छूटकर अपने मालिक, बीजापुर के नवाब, मुहम्मद आदिलशाह के पास पहुँचा। आदिल को सन्देह हुआ कि शिवाजी के यह काम शाहजी की छिपी सलाह के बिना नहीं हो सकते। शाहजी उन दिनों करनाटक में थे। उन्हें उसने धोखे में कैद

करवा लिया। उन्होंने बहुतेरा कहा कि शिवाजी के काम उनकी सम्मति से नहीं होते थे, पर नवाब को विश्वास न हुआ। शाहजी एक अंधेरी कोठरी में बन्द कर दिए गए। शिवाजी को अपने कारण पिता के बन्दी होने पर दुःख हुआ। अब तक उन्होंने मुग़ल-सम्राट् से छेड़छाड़ शुरू नहीं की थी। इसलिए शाहजहां से लिखा पढ़ी करके उसकी सहायता से शाहजी को आसानी से छुटकारा दिलाया। शाहजी फिर से अपने पुराने पद पर नियत हुए फिर बीजापुर-दरबार ने शिवा जी को पकड़ने की बहुत गुप्त चेष्टाएं कीं, परन्तु सफलता न मिली। उल्टा क़ैद करने की कोशिश करने वाले ही मारे गए।

इसी बीच दिल्ली के मुगल राज्यसिंहासन पर औरंगजेब बैठा। अपने बाप शाहजहाँ के राज्यकाल में ही वह गोलकुंडा और बीजापुर के बादशाहों को दिल्ली की आधीनता स्वीकार करा चुका था। शिवाजी औरंगज़ेब की चालाकियों से परिचित थे। उन्होंने ऐसे शक्तिशाली एवं कूटनीतिज्ञ सम्राट् से छेड़छाड़ करना अच्छा न समझा। इसलिए उसके दिल्लीश्वर होते ही शिवा जी ने उससे मित्रता करने का सन्देश भेजा। औरंगजेब भी शिवाजी के विषय में सुन चुका था। उसने ऐसे उदीयमान वीर से सम्बन्ध बनाए रखना उचित समझा। अतः उसने बीजापुर का जो देश शिवाजी ने जीत लिया था उसका अधिकारी उन्हें घोषित कर दिया। इसका अभिप्राय बीजापुर नरेश को शक्तिहीन करना था। ऊपर से तो वह शिवाजी से इस प्रकार मैत्री के भाव प्रकट करता था, किन्तु उसकी दिली इच्छा थी कि किसी प्रकार उन्हें क़ैद कर ले। बहुत सी तरकीबें की गईं पर कामयाबी न हुई। इधर

शिवाजी भी चौकन्ना थे। वे धीरे-धीरे अपनी फ़ौज बढ़ाते जाते थे। साथ ही कोकण आदि कई प्रान्त भी जो बीजापुर के आधीन थे, उन्होंने जीतकर अपने अधिकार में कर लिए।

शिवाजी के उपद्रवों से बीजापुर के बादशाह की नाक में दम आ गया। उसने सोचा कि यदि शिवाजी इसी तरह स्वच्छन्द रहे तो एक दिन ऐसा आवेगा जब बीजापुर का सारा राज्य उसी के हाथ में आ जायगा। इसलिए उसे अच्छी तरह कुचल डालना चाहिए। निदान उसने तैयारी करना आरम्भ कर दिया। अफ़जल खाँ को पांच हजार सवार, सात हजार पैदल, बहुत सी तोपों आदि के साथ शिवाजी को क़ैद कर लाने अथवा मार डालने के लिए भेजा गया। अफ़जल डीलडौल में बड़ा और बलवान था। उसने सोचा कि इकहरे बदन का शिवाजी यदि किसी तरह मुझसे एकान्त में मिल जाय तो बहुत अच्छा हो। बिना खून खराबी के दुश्मन को मार डालूं बीजापुर से चलते समय उसने प्रतिज्ञा भी की थी कि शिवाजी का सर लेकर लौटूँगा। अस्तु; उसने एक ब्राह्मण दूत भेजकर शिवाजी से कहलाया कि यदि वह अधीनता स्वीकार करले तो बादशाह से क्षमा करा देने का ठेका मैं लेता हूँ। साथ ही मंसबदारी और पतृक जागीर भी बढ़वा दूँगा। इसलिए अच्छा हो कि वह मुझसे अकेलें में मिल ले। शिवाजी को अफ़जल की बदनीयत का हाल गुप्तचरों से मालुम हो गया था। दूत ब्राह्मण ने भी अन्त में सारा भेद बतला दिया। इतने पर भी शिवा जी ने अपना भाग्य आजमाना चाहा। वह अफजल के प्रस्ताव पर राजी होगए। उन्होंने देवी की पूजा की। हथियार बांधे। बख्तर पहना। उसके ऊपर से कोट

पहन लिया। और अपने बहुत से विश्वस्त सैनिकों को तैयार होकर मिलन-स्थल के आसपास झाड़ियों में छिप रहने का आदेश दिया। उनसे यह भी कह दिया कि यदि मुसल्मान विश्वासघात करें तो मेरा संकेत पाते ही उनपर टूट पड़ना।

इस प्रकार पहले से सावधान होकर शिवाजी अफजल ख़ां से मिलने चले। फजल ने मौका पाकर उनपर तलवार चला ही तो दी। परन्तु कवच से ढके हुए शरीर पर तलवार का कुछ असर न हुआ। शिवाजी ने तुरन्त ही अफ़जल खां के पेट में बघनख भोक दिया। आतें निकल पड़ी। विश्वासघाती वहीं ढेर हो गया। इतने में असावधान मुसल्मान फौज पर शिवाजी के साथी टूट पड़े। टुकड़े टुकड़े कर डाले। शिवाजी ने अपने सिपाहियों की इस बात पर अप्रसन्नता प्रकट की। आज्ञा हुई कि असावधान सेना पर हमला न किया जाय। क़ैदी शत्रु सेना के साथ सभ्यता का व्यवहार किया गया। अपनी विजयी सेना को शिवाजी ने बहुत सी कीमती चीज़ें भेंट कीं। इससे उसका उत्साह और बढ़ गया। अफ़जल की मृत्यु का समाचार सुनकर बीजापुर का बादशाह बहुत नाराज हुआ। उसने पहले से बड़ी सेना भेजकर शिवाजी को परास्त करना चाहा। पर उसकी दाल न गली। अन्त में वह स्वयं शिवाजी पर चढ़ आया। शिवाजी दांव पेंच में पटु थे ही, कभी सामना करते, कभी अपनी टुकड़ी लेकर छिप जाते और मौका पाकर छापा मारते। आख़िरकार बीजापुर को सन्धि करनी पड़ी। शिवाजी की धाक जम गई। सब उससे डरने लगे।

दक्षिण भारत पर इस प्रकार अपना आतंक जमा कर शिवाजी ने औरंगजेब की ओर दृष्टि उठाई। हुकम हुआ कि

मुग़लों के आधीन देशों में भी लूटमार शुरू कर दी जाय। उनके रिसाले के अफसर नेतोजी केलकर ने औरंगाबाद को लूट लिया। इस समाचार से औरंगजेब आग बबूला होगया। शिवाजी को उसकी उद्दण्डता का मजा चखाने के लिए शाइस्ताखां एक बहुत बड़ी सेना के साथ रवाना किया गया। वह रास्ते में गांवों को उजाड़ता और क़िलों को अपने अधिकार में करता हुआ पूना तक जा पहुँचा। उसने 'चाकन' के क़िले पर आक्रमण किया। इस किले का सेनापति फिरंगोजी नरमला था। पचपन दिन तक उसने विशाल मुगल सेना की एक न चलने दी। अन्त में किले की एक दीवार टूट जाने से वीर मराठे युद्धक्षेत्र में निकल आए। इन मुट्ठी भर वीरों ने मुग़लों के छक्के छुड़ा दिये। शाइस्ता ख़ाँ फिरंगोजी की वीरता पर मुग्ध हो गया। वह उसे प्रलोभन देकर अपनी सेना में उच्च पद पर नियुक्त करना चाहता था, किन्तु ऐसा न हो सका। इस लड़ाई से शाइस्ता ख़ाँ को मालूम हो गया कि मराठों का जीतना हँसी खेल नहीं है। वह अब सम्मुख युद्ध से अपनी जान बचाने लगा। औरंगजेब ने उसकी सहायता के लिए जोधपुर के जसवन्तसिंह को भेजा। इस बड़ी सेना ने पूना में घेरा डाल दिया। शाइस्ता ख़ाँ ने यह प्रबन्ध किया कि शिवा जी शहर के भीतर न आ पावें। परन्तु शिवा जी ने एक चाल चली। एक बनावटी बरात निकाली गई। शिवाजी अपने चुने हुये साथियों का जुलूस लेकर पूना में दाखिल हुये। यह लोग शाइस्ता ख़ाँ के मकान में घुसे। वह निश्चिन्त था। अपने ऊपर आक्रमण होते देख वह खिड़की की राह भाग निकला। शिवाजी की तलवार का वार खाली गया। केवल उसे

अपनी उँगलियों से हाथ धोना पड़ा। जान बच गई। शिवाजी अपने साथियों को लेकर शहर के बाहर चले गए। लोग देखते रह गये।

दूसरे दिन मुग़ल फ़ौज ने शिवाजी के किले पर बड़े ज़ोर शोर से चढ़ाई की। किले से नजदीक पहुँचने पर यकायक तोपों के गोले लगातार बरसने लगे। फ़ौज के पाँव उखड़ गये। मराठों ने उसका पीछा करके छिन्नभिन्न कर दिया। शाइस्ता इन हारी सेना से परेशान हो गया। वह थोड़े दिन बाद बंगाल भेज दिया गया। यशवन्तसिंह की भी कुछ न चली। उसने थोड़ी सी फ़ौज शिवाजी की खबर लेते रहने के लिए छोड़कर बाकी औरंगाबाद की ओर भेज दी।

इधर छुट्टी पाकर शिवाजी फ़ौज और युद्ध के खर्च के लिये धन इकट्ठा करने की तरफ झुके। सन् १६६४ के आरम्भ में उन्होंने सूरत पर धावा मारा। लगातार ६ दिन लूट जारी रही। लूट का असंख्य धन लेकर वह रायगढ़ किले को लौटे। वहाँ समाचार मिला कि घोड़े से गिरकर शाह जी का देहान्त हो गया था। उनका अन्तेष्टि संस्कार किया। फिर राज्य प्रबन्ध में लग गए। इन्हीं दिनों शिवाजी ने राजा की उपाधि धारण की। अपने नाम के सिक्के चलाये। इस तरह अपनी वीरता, संगठन-शक्ति और अदम्य साहस से एक साधारण जागीर के स्थान पर इन्होंने बीस वर्षों के उद्योग से स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। औरंगज़ेब देखता रह गया। अपना अलग राज्य कायम करके शिवाजी ने यह दिखा दिया कि इतना कुचले जाने पर भी हिन्दुओं में प्राचीन आर्यों का रक्त शेष था।

इस बीच शिवाजी के कुछ सरदारों ने मक्का जाते हुये मुसलमान हाजियों का जहाज लूट लिया। इस समाचार को सुनकर औरंगजेब आग बबूला हो गया। उसने दिलेर ख़ाँ और जयसिंह के अधीन एक बहुत बड़ी सेना शिवाजी को पराजित करने लिए रवाना की। शिवाजी ने सोचा कि इस समय कूटनीति से काम लेना अधिक उचित है। उन्होंने जयसिंह से सन्धि की चर्चा छेड़ दी। एक ओर तो सुलह की बातें हो रही थीं, दूसरी ओर वीर मराठे पुरन्दर के किले में दिलेर खाँ को अपनी अपूर्व युद्ध-शक्ति का परिचय दे रहे थे। वहाँ किले के भीतर घुसने का साहस करने वाले मुग़ल सैनिक ढेर हो रहे थे। मराठों की संख्या मुगलों की अपेक्षा बहुत थोड़ी थी। किन्तु वे जान पर खेल रहे थे। दिलेर ने इन वीरों के सरदार बाजी मुरार पर निशाना मारना आरम्भ किया। अकस्मात् उसने वीर गति पाई। इस पर भी मराठों की सेना विचलित न हुई। वह बराबर गोली बारी करती रही। अन्त में दिलेर ख़ाँ की फ़ौज भाग खड़ी हुई। उसे बहुत दुःख हुआ कि मुट्ठी भर मराठों ने ऐसी शिकस्त दी। उसने दूसरी ओर हटकर पास ही स्थित एक पहाड़ी पर से पुरन्दर गढ़ पर गोले बरसाना आरम्भ किया। दैवयोग से इसी समय वर्षा होने लगी। इससे दिलेर के मन्सूबों पर पानी फिर गया।

दिलेर ख़ाँ किला घेरे पड़ा था। मराठी सेना को बाहर से सहायता न मिल रही थी। फिर भी उसने अभी तक हिम्मत न हारी थी। इतने में समाचार मिला कि शिवाजी ने जयसिंह पर विश्वास करके सन्धि कर ली। राजसिंह ने विश्वास दिलाया कि राजपूत की बात खाली नहीं जाती।

यदि वह हमारी शर्तें स्वीकार कर लेंगे तो उन्हे उचित सम्मान से औरंगजेब के द्वारा पुरस्कृत कराऊँगा। शिवा जी ने स्वीकार कर लिया कि मुग़ल राज्य के जीते हुये किले लौटाकर मुग़ल राज्य की आधीनता स्वीकार कर लेगा। इसके बदल सम्राट् औरंगजेब ने जयसिंह के कथनानुसार शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को पंचहजारी का पद देना स्वीकार किया। साथ ही उसने यह इच्छा प्रकट की कि शिवाजी बीजापुर जीतने में मुग़ल सेना की सहायता करे। शिवाजी ने ऐसा किया भी। इसके बदले औरंगजेब ने शिवाजी की बहुत बड़ाई की और एक पोशाक भेट में दी। यह भी लिख भेजा कि यदि शिवाजी मुगल दरबार जाना स्वीकार करे तो वहाँ उनका उचित आदर किया जाय। जयसिंह ने शिवाजी की जान और इज्जत की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। इस पर वह दिल्ली जाने के लिए राजी हो गये।

दिल्ली का रंग-ढंग देखकर शिवाजी को मालूम होने लगा कि दाल में कुछ काला अवश्य है। वह सावधान होकर औरंगजेब के दरबार में पहुंचे। जब यह वहाँ पहुँचे उस समय का वर्णन प्रसिद्ध कवि भूषण के शब्दों में सुनिये—

> आए दरबार, बिललाने छरीदार देखि,
> जापता करनहारे नेकहूँ न मनके।
> भूषन भनत भौंसिला के आय आगे ठाढ़े,
> बाजे भये उमराय तुजुक करन के॥
> साहि रह्यो जकि, सिवसाहि रह्यो तकि,
> और चाहि रह्यो चकि, बने व्योंत अनबन के।
> ग्रीषम के भान सो खुमान को प्रताप देखि,
> तारे सम तारे गए मूंदि तुरकन के॥

इस यशस्वी वीर को देखते ही सारे दरबार पर रोब छा गया। किन्तु औरंगजेब ने जो बातें कह कर शिवाजी को अपने दरबार में बुलाया था वे सत्य न थीं। उसका असली इरादा शिवाजी को नीचा दिखाना था। इसलिए दरबार में उसे पञ्चहजारी मन्सबदारों के बीच बैठने का स्थान पहले से निश्चित कर रखा था। इस अपमान से शिवाजी की आँखों से खून बरसने लगा। उसने क्रोध में आकर सारे दरबार को इस निरादर के लिए फटकार डाला। सन्नाटा छा गया। किसी की हिम्मत न हुई कि उसे भारत के सम्राट् औरंगजेब का लिहाज़ करने को कहता। शिवाजी बिगड़ कर दरबार से अपने डेरे चले गए। वहाँ औरंगजेब ने दिनरात उनकी निगरानी करते रहने के लिये पहरा बैठा दिया। इस प्रकार जब बहुत समय बीत गए तब शिवाजी ने इस क़ैद से छूटने की तरकीब सोची। वह बीमार बन गये। बड़े बड़े टोकरों में भर कर मिठाई दान करके बाहर भेजी जाने लगी। कई दिन तक ऐसा होता रहा। एक दिन शिवाजी ने अपनी चारपाई पर अपने एक विश्वस्त नौकर को लिटा दिया। उसके एक हाथ में अपनी अँगूठी पहना दी और उसे हाथ चारपाई से नीचे लटकाए रहने का आदेश दिया। इस तरह शाही जासूसों को धोखे में डालकर एक टोकरी में खुद बैठे और दूसरी में अपने बेटे सम्भाजी को बैठाया। नौकरों ने बड़ी सावधानी से यह बहुमूल्य मिठाइयाँ शहर के बाहर पहुँचा दी। वहाँ पहले से इनके साथियों ने दो तेज घोड़े तैयार रखे थे। फिर क्या था, शिवाजी अपने कुछ सैनिकों के साथ भाग निकले। रास्ते में कुछ दूर जाने के बाद साधुओं का वेश बना लिया, जिससे कोई पहिचान न ले।

बहुत सी कठिनाइयों को झेलते हुए अपनी राजधानी में जा पहुँचे। यह समाचार जब औरंगजेब को मालूम हुआ तब वह हाथ मल कर रह गया। उसने शिवाजी को पकड़ने के बहुतेरे उपाय किये परन्तु सब व्यर्थ हुए।

दक्षिण पहुँचकर शिवाजी ने फिर से उन देशों पर कब्जा करना आरम्भ कर दिया जो उन्होंने जयसिंह से सन्धि करके मुग़लों को दे दिये थे। एक-एक करके फिर सब गए हुये किलों पर अधिकार कर लिया। मुग़ल राज्य में फिर लूटमार शुरू हो गई। औरंगज़ेब ने उसका दमन करने के लिये शाहजादा शाह आलम को दिलेर ख़ाँ और ख़ाँ जहाँ के साथ भेजा। शाह आलम ने शिवाजी से सज्जनता का व्यवहार किया। उसे सम्राट् की ओर से राजा की उपाधि दी। सम्भाजी की मंसबदारी बहाल रखी। बरार की कुछ जागीर भी दी। यह सब इसलिये किया कि शिवाजी उसकी सहायता उस समय करें जब औरंगजेब के मरने पर दिल्ली के तख़्त के लिये भाइयों में युद्ध हो। शिवाजी ने गुप्त रूप से उसे मदद देने का बचन दिया। किन्तु उसके पास नहीं गया।

इन बातों से औरङ्गजेब सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने १६७० ई० में फिर शिवाजी पर चढ़ाई करने का हुक्म जारी किया। शिवा जी तो हर समय चौकन्ने रहते थे। उन्होंने मुगलों का हमला होने देने के पहले ही सिंहगढ़ और पुरन्दर के किलों पर धावा बोल दिया। यह दोनों किले पहले शिवाजी के थे पर इन दिनों मुगलों के आधीन थे। तानाजी नामक सेनापति ने सिंहगढ़ जीतने का बीड़ा उठाया। बड़ी जवांमर्दी से युद्ध करते उसने सिंहगढ़ पर शिवाजी का भगवा झंडा गाड़

दिया। इस युद्ध में भाग लेने वाले वीरों को बहुत सी कीमती चीजें इनाम में दी गईं। ताना जी के भाई सूर्या जी ने सिंहगढ़ विजय के एक महीने के भीतर पुरन्दर को भी जीत लिया। इसी बीच शिवा जी ने सूरत को फिर से लूटा और कई किलों पर कब्ज़ा किया। मुग़लों के आधीन खान्देश ने शिवा जी को चौथ देना स्वीकार किया।

यह समाचार सुनकर औरङ्गजेब ने महताबखाँ को ४० हजार फौज देकर शिवा जी को परास्त करने के लिये भेजा। इसे कामयाबी हासिल न हुई। शिवा जी की हर लड़ाई में जीत हुई। इन हारों से नाराज़ होकर औरङ्गजेब ने महताब खाँ को वापस बुला लिया और खाँजहाँ को दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजा। उसने एकाएक हमला करना ठीक न समझा। धीरे धीरे तैयारी करना आरम्भ किया। मौका पाकर शिवा जी ने इसी बीच गोलकुन्डा लूट लिया। वहाँ बहुत धन मिला। इसी वर्ष १६७२ ई० में बीजापुर का सुलतान आदिलशाह मर गया। शिवाजी ने इस से लाभ उठाया। उसकी सेना ने पनाला नामक प्रसिद्ध किला अपने आधीन कर लिया और हुबली की लूट में असंख्य धनराशि पाई। साथ ही उसने और बहुत से किले जीते।

इस प्रकार प्रायः सारे दक्षिण प्रान्त में अधिकार कर के शिवा जी सन् १६७४ में विधिपूर्वक राजसिंहासन पर बैठे। उनके नाम के सिक्के तो पहले से चल रहे थे, अब शिवाजी ने उनमें सम्बत की छाप भी लगानी आरम्भ कर दी!

अब शिवाजी का ध्यान अपने पिता शाह जी की जागीर की ओर गया। यह कर्नाटक में थी। शिवाजी ने १८ महीने तक

घोर परिश्रम और युद्ध के बाद इस पर अपना अधिकार कर लिया। इसी समय मुग़लों की सेना उत्तर भारत से उन्हें नीचा दिखाने आई। घमसान लड़ाइयाँ हुईं। अन्त में मुग़ल-सेनापति को शिवाजी की अधीनता माननी पड़ी।

इन युद्धों के फल-स्वरूप बीजापुर-दरबार ने यह स्वीकार कर लिया कि शाहजी की जागीर पर शिवाजी का हक़ है। शिवाजी ने अपने राज्य की व्यवस्था करने की ओर ध्यान दिया। अकस्मात् १६८० ई० में उनके दोनों घुटनों को बाई ने जकड़ लिया। 'मर्ज़ बढ़ता ही गया, ज्यों ज्यों दवा की'। फिर ज्वर भी आने लगा। सात दिन तक बीमार रहने के पश्चात् १५ अप्रैल को शिवाजी के प्राण-पखेरू शिव-लोक को उड़ गये।

इस प्रकार चालीस वर्ष तक लगातार युद्ध करते, शत्रुओं को परास्त करते हुए अन्त में एक विस्तृत राज्य की स्थापना करके यह महापराक्रमी योद्धा कराल काल से हार गया।

ऊपर शिवाजी का जो चरित्र वर्णित है, उसे पढ़ने से यही ज्ञात होता है कि उनका सारा जीवन प्रायः युद्धभूमि में ही कटा था। एक साधारण जागीरदार के बेटे ने अपने बाहुबल से भारत के विशाल राज्याधिकारी औरङ्गज़ेब के लगातार विरोध करते रहने पर भी एक बड़े हिन्दू-राज्य की नींव डाल दी। यह असाधारण कार्य बिना दुर्लभ मानवीय गुणों के नहीं हो सकता। युद्ध करते हुए भी शिवाजी ने जैसा उत्तम राज्य-प्रबन्ध किया था, वैसा बहुत कम लोग शांतिकाल में भी कर सकते हैं। कट्टर हिन्दू, गो-ब्राह्मण-सेवक एवं हिन्दू-धर्म का भक्त होते हुए भी शिवाजी में धार्मिक असहिष्णुता का लेश न था। उन्होंने मुसलमानों की एक भी मस्जिद पर अपने साथियों

को हाथ नहीं लगाने दिया। औरङ्गज़ेब के मथुरा, काशी आदि हिन्दू तीर्थों का विध्वंस करने का समाचार सुनते हुए भी उदार शिवाजी ने कभी किसी मुसलमान के विरुद्ध अमानुषिक एवं धर्मान्ध व्यवहार नहीं किया। शत्रु की स्त्रियों के क़ैद हो जाने पर भी उन्होंने उनको आदरपूर्वक उनके साथियों के पास पहुँचाकर अपनी विशाल सहृदयता का परिचय दिया है। लूट-पाट में एक प्रकार से सारा जीवन व्यतीत करने पर भी शिवा-जी ने कभी ग़रीबों और किसानों पर हमला नहीं किया। वह सदैव धनी लोगों पर ही धावा किया करते थे। साहस, दृढ़ता और जोश तो उनकी रग-रग में भरा था। बुद्धिमानी, दूरदर्शिता एवं चातुरी की उनमें पर्य्याप्त मात्रा में थी। सैनिक शिवाजी का अपने धर्म पर दृढ़ विश्वास था। युद्धक्षेत्र में भी वे ईश्वर की उपासना तथा नित्य-कर्म करने के लिए समय निकाल लिया करते थे।

ये सब ऐसे वैयक्तिक सद्गुण हैं, जिनके कारण शिवाजी ने इतनी उन्नति की थी। अब ज़रा इनके शासन-विधान का भी हाल सुन लीजिए। शिवाजी स्वच्छन्द शासक न थे। वह यह नहीं मानते थे कि उनकी आज्ञा ही राज्य-कार्य में सर्व-प्रधान है। राज्य-कार्य चलाने के लिए उन्होंने आठ सदस्यों की एक सभा नियुक्त की थी। हर सदस्य के अधीन एक-एक विभाग था। इन आठ सदस्यों में पेशवा प्रधान मंत्री था; सेनापति के अधीन फ़ौज का महकमा था, पन्त आमात्य अर्थ-सचिव था; पन्त सचिव का काम आजकल के एकाउण्टेण्ट अथवा आडीटर जनरल का-सा था; मंत्री राजा के निजी मंत्री का काम

करता था; सूमन्त के अधिकार चीफ़-सेक्रेटरी के सदृश थे; पण्डितराव धर्माध्यक्ष था और न्यायाधीश।

इन आठ प्रधान सदस्यों की सलाह से राज्य के भिन्न-भिन्न काम हुआ करते थे। शिवाजी का राज्य दो प्रकार का था। एक तो वह, जिसके वे पूरे स्वामी थे और दूसरा वह जो असल में मुग़लों या अन्य लोगों के अधीन था, किन्तु शिवाजी को चौथ देता था। शिवाजी के राज्य की सालाना आमदनी सवालाख के क़रीब थी। सारे राज्य की पैमायश होगई थी। किसानों को पैदावार का २/५ राज्य को देना पड़ता था। दुर्भिक्ष के समय यह नहीं वसूल किया जाता था, किन्तु राज्यकोष से तक़ावी दी जाती थी। गांवों के आपसी झगड़े पंचायतों के द्वारा तय होते थे। अध्यापकों, पण्डितों, मदरसों और देव-मन्दिरों के लिए राज्य की ओर से जागीरें लगी थीं। उनकी आमदनी से इनके ख़र्च चलते थे। संस्कृत के अध्ययन करने के लिए शिवाजी ने विशेष आयोजन किया था। धार्मिक त्योहारों में शिवाजी बहुत समारोह किया करते थे। विशेष-कर दशहरा बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। शिवाजी ने जासूसी महकमा भी क़ायम कर रखा था। इस विभाग की बदौलत उन्हें सब प्रकार के समाचार मिला करते थे। युद्ध होते रहने पर भी जनता एक प्रकार से शांति और समृद्धि का सुख भोगा करती थी। इन व्यक्तिगत एवं राजकीय विशेषताओं के होने से ही शिवाजी ने वह काम कर दिखाया जो बहुत कम लोग कर सकते हैं। इसी लिए हम उनका नाम आज भी बड़े आदर और श्रद्धा से लिया करते हैं।

समर्थ गुरु रामदास
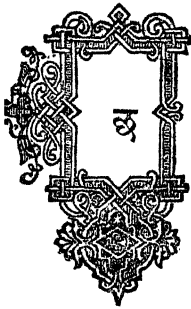
त्रपति शिवाजी को अक्षयकीर्ति का भागी बनाने का श्रेय दो महानुभावों को है, दादा जी कोंडदेव और समर्थ रामदास जी। सच तो यह है कि यदि शिवाजी को भी समर्थ के सदुपदेश लगातार न मिले होते, तो कदाचित् हम उन्हें आज उस रूप में न पाते जिसमें इतिहास उन्हें प्रस्तुत करता है। शिवाजी के धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के मूल आश्रयदाता रामदास जी थे। महाराष्ट्र में आजकल भी समर्थ गुरु रामदास की बहुत प्रसिद्धि है। इनके पिता का नाम सूर्याजी पन्त था। इनकी पत्नी श्रीमती राणुबाई के गर्भ से चैत्र शुक्ल नवमी रविवार शक संवत् १५३० (तदनुसार एप्रिल सन् १६०८ ई०) को एक पुत्ररत्न पैदा हुआ। 'नारायण' उसका नाम रखा गया। 'एकनाथ' नामक तत्कालीन एक ज्ञानी साधु ने बालक नारायण को देखकर भविष्यवाणी की कि 'अभी दक्षिण में एक राजा पैदा होगा। उसके द्वारा यह नारायण पृथ्वी का भार हरेगा।' बाल्यावस्था में नारायण को कभी किसी ने रोते नहीं देखा। चंचल तो इतने थे कि एक स्थान पर पल भर भी बैठना दूभर हो जाता था। इसके बाल-उत्पातों से पड़ोसी बालकों का नाक में दम था। नटखटपन इनकी नस-नस में भरा था।

पेड़ पर चढ़ना, तैरना, दीवार फाँद जाना आदि इनके लिए बहुत सहज था। पाँच वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। गुरु के यहाँ पढ़ना-लिखना सीखने भेजे गये। सात वर्ष की उम्र में इनके पिता का शरीरान्त होगया। इस घटना ने नारायण के चित्त में विरक्ति के भाव उत्पन्न कर दिये।

कुछ समय पश्चात् नारायण ने अपने बड़े भाई 'श्रेष्ठ' से दीक्षा लेने का विचार प्रकट किया। 'तुम अभी बच्चे हो' कह-कर उन्होंने टाल दिया। पर उनके दिल से यह इरादा न टला। वह गोदावरी के किनारे एक एकान्त मन्दिर में परमा-त्मा के ध्यान में लीन हो गये। उन्हें जान पड़ा, मानो कोई दैवी शक्ति कह रही है कि 'समस्त पृथ्वी पर म्लेच्छ फैले हैं, इस-लिए वैराग्य लेकर कृष्णा के किनारे रहो। वहाँ उपासना और ज्ञान की वृद्धि करके संसार का उद्धार करो। बालक नारायण की अनुपस्थिति से उनकी माता बहुत परेशान हुईं। ढूंढ़ने के लिए आदमी भेजे गये। 'श्रेष्ठ' प्रभापूर्ण नारायण को लेकर माँ के पास पहुँचे। वह प्रसन्न और सन्तुष्ट हुईं।

अब राणुबाई की इच्छा हुई कि नारायण की बहू का मुँह देखे। विवाह की चर्चा चलते ही नारायण बहुत बिगड़े। उनके उपाध्याय ने एक दिन विवाह की आवश्यकता पर उपदेश दिया। उसके समाप्त होने पर नारायण भाग निकले। लोग पकड़ने दौड़े। वह एक बरगद पर चढ़ गये। तंग किये जाने पर वहाँ से नीचे तालाब में कूद पड़े। गहरी चोट आई। फिर भी पानी के भीतर डुबकी लगाये रहे। लोग बहुत परेशान

हुए। जब 'श्रेष्ठ' ने पुकारा, तब निकले। एक बार माँ ने स्वयं इनसे पूछा कि उनकी आज्ञा वे मानेंगे अथवा नहीं। नारायण ने उत्तर दिया कि यदि उनकी बात न मानेंगे तो किसकी मानेंगे। शास्त्रों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि माता से बड़ी दूसरी देवी नहीं है। इस पर प्रसन्न होकर वह बोलीं—तो फिर विवाह क्यों नहीं करता? अन्तर-पट पकड़ने तक इससे इन्कार न करना। नारायण ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। विवाह की तैयारियाँ हुईं। जब अन्तर-पट ग्रहण करने का अवसर आया तब ब्राह्मणों ने 'सावधान हो जाओ' कहा। नारायण को अपनी माँ के दिये हुए बचन स्मरण हो आये। अन्तर-पट पकड़ चुके। अब वे अपने बचनों से मुक्त थे। अतः मण्डप से भाग निकले। पकड़ने के प्रयत्न निष्फल हुए। लोग निराश हो लौट आये।

यहाँ से भागकर बारहवर्षीय नारायण ने तीन दिन एक पीपल की आड़ में बिताये। फिर नासिक चले। पञ्चवटी से टाकली पहुँचे। वहाँ एक गुफ़ा में तप करने लगे। दोपहर तक गोदावरी के जल में खड़े-खड़े मंत्र जपा करते। फिर भीख मांगकर भोजन करते। नारायण बहुत कम बोलते और अपना प्रायः सारा समय आत्म-चिन्तन और जप में बिताया करते थे। रामायण की कथा सुनने अथवा भगवत्-चर्चा में भी कभी-कभी भाग लिया करते थे। इस प्रकार तपश्चर्या में बारह वर्ष हो गये। अब नारायण ने देश-भ्रमण का निश्चय किया। शक संवत् १५५४ में यह तपस्वी खड़ाऊँ पहने, माला लिये पर्यटन के लिए निकल पड़ा।

काशी, अयोध्या, मथुरा होते हुए यह महापुरुष श्रीनगर

पहुँचा ; वहाँ नानक-पंथी सिक्खों की वेदान्त-विषयक शंकाओं को दूर किया ; उन्हें अपने ही धर्म में दृढ़ रहने का उपदेश दिया। फिर बदरी, केदार, श्वेतमारुति आदि के दर्शन करते हुए जगन्नाथ पुरी गये। वहां रामेश्वर और फिर पञ्चलियों के दर्शन करके किष्किंधा पहुँचे। वहां से होते हुए नासिक लौट आये। इस यात्रा में उन्हें १२ वर्ष लगे। मार्ग में अपने दिव्य-ज्ञान का उपदेश देना वे कभी न भूले। कुछ दिन पञ्चवटी में रहकर गोदावरी की प्रदक्षिणा के लिए निकल पड़े। मार्ग में माँ और भाई की याद आई। घर की ओर मुड़े। वहाँ 'जय-जय श्रीरघुवीर समर्थ' कहकर भीख मांगी। माँ ने पुत्र-वियोग में २४ वर्ष से अधिक बिताये थे। रोते-रोते आँखें खो बैठी थीं। बोली से पहचान गई। खोये हुए बेटे को पाकर गले से लगा लिया। अब आनन्द के आँसुओं की वर्षा होने लगी! बहुत देर तक रोती रहीं! तरुण तपस्वी के पुण्य-प्रभाव से राणुबाई की आँखों में फिर ज्योति आ गई। उसे सन्देह हुआ कि बेटा कदाचित् भूत-प्रेत सिद्ध करना सीख गया है। उसके बल से वह देखने लगीं हैं। श्रीसमर्थ ने कहा 'यह सन्देह निर्मूल है। मेरा भूत तो एक-मात्र परमात्मा है, जो राम सब भूतों (जीवों) के हृदयों में वास करता है। मैं उसी राम का दास हूँ 'रामदास'; और नित्य उसी का यशोगान करता हूँ।'

कुछ दिन यहाँ रहकर श्रीरामदास ने अपनी माँ को आत्म-ज्ञान दिया। फिर तीर्थाटन करने चल दिये। गोदावरी के उद्गम से संगम तक भ्रमण किया। फिर थोड़े दिनों तक 'टाकली' में भजन करते रहे। तत्पश्चात् धर्मोपदेश देने शक

संवत् १५५६ के वैसाख में दक्षिण की ओर चल पड़े। जहाँ जाते, लोगों को श्रीराम के पूजन-भजन का उपदेश देते और मठ स्थापित करते। अगणित लोगों ने इनसे दीक्षा ली, उनमें कुछ तत्कालीन महाराष्ट्र-गौरव शिवाजी के क़िलेदार भी थे। श्रीरामदास की कीर्ति उन दिनों शिवाजी के कानों तक पहुँच-गई थी। उनकी अभिलाषा हुई कि श्रीसमर्थ को धर्म-गुरु बनायें। जहाँ कहीं उनका पता पाते, पहुँचते, परन्तु भेंट न होती थी। पता लगाने के लिए बहुत से सेवक इधर-उधर भेजे। शिवाजी की मिलने की उत्सुकता जानकर श्रीसमर्थ ने उनके पास एक पत्र भेजा। उसमें आदर्श राजा के लिए आवश्यक गुणों का उल्लेख किया, तत्कालीन धार्मिक अवनति का चित्र खींचा। फिर शिवाजी के अनेक धार्मिक कार्यों की प्रशंसा करके कहा कि इस समय 'देवता, धर्म, गो और ब्राह्मण की रक्षा करने की सामर्थ्य तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे में नहीं है। अतः अब तुम्हें धर्म का स्थापन करना चाहिए।'

इस पत्र का शिवाजी पर उचित प्रभाव पड़ा। वह तुरन्त समर्थ से मिलने चले। भेंट हुई। मंत्र-दीक्षा की प्रार्थना की गई। बैसाख शुक्ल नवमी १५७१ शक संवत् को शिवाजी को मंत्रोपदेश किया गया। प्रासाद-स्वरूप एक नारियल, मुट्ठी-भर मिट्टी, दो मुट्ठी लीद, और चार मुट्ठी पत्थर प्रदान किये। मिट्टी से पृथ्वी पर अधिकार करने, लीद से महान् ऐश्वर्य प्राप्त करने और पत्थरों से दुर्गों पर क़ब्ज़ा करने का अभिप्राय था। तदनन्तर वेदान्त का उपदेश सुनाया। शिवाजी ने साधु का जीवन व्यतीत करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु समर्थ ने कहा—"तुम्हारा मुख्य धर्म राज्य एवं धर्म स्थापित करना और

देव-ब्राह्मण की सेवा करना है। यही करो।" एक बार शिवाजी ने अभिलाषा की कि श्रीसमर्थ नित दर्शन दिया करें। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि मैं जंगलों का निवासी होने से नित्य-प्रति ऐसा करने का नियम निभा नहीं सकता। इसलिए तुम्हें चाहिए कि अपनी माता को तीर्थ-स्वरूप समझकर उनकी पूजा करो, नैवेद्य चढ़ाओ और उन्हीं का प्रसाद लो। शिवाजी ने इस सदुपदेश का पालन किया। शिवाजी का अहंभाव दूर कराने, उन्हें कर्तव्य का ज्ञान कराने तथा धर्म का तत्व समझाने के लिए श्रीसमर्थ समय-समय पर उपदेश दिया करते थे। शिवाजी भी उन पर अमल किया करते थे।

शक वत्सर १५७६ में श्रीसमर्थ ने मध्व-सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रसिद्ध पण्डित मध्वाचार्य से उड़पी में भेंट की। एक बार 'जयजय श्रीरघुवीर समर्थ' कहकर शिवाजी के द्वार पर उन्होंने भीख माँगी। गुरु का स्वर पहचानकर शिवाजी ने 'श्री समर्थ गुरु के चरणों पर सारा राज्य अर्पित है'—यह लिखकर इनके चरणों के नीचे छोड़वा दिया। यह ज्ञात होने पर श्रीरामदास ने कहा कि राज्य करना मेरा काम नहीं है। यह तो क्षत्रियों का धर्म है। शिवाजी ने अन्त में समर्थ के प्रतिनिधि के रूप से राज्य-भार ग्रहण किया। राज्य-सिंहासन पर भरत की भाँति श्रीसमर्थ की खड़ाऊँ रखी गईं और समर्थ के भगवे वस्त्र के रंग का मराठा झंडा हुआ। शिवाजी सब काम समर्थ से पूँछकर किया करते थे। उनकी आज्ञा मानना अपना परमधर्म समझते थे। समर्थ का दर्शन करने के लिए सैकड़ों लोग आया करते थे, उनके शिष्यों की संख्या भी कम न थी। शिवाजी ने इन सब का ख़र्च चलाने के लिए बहुत से गाँव प्रदान किये।

माघ शुक्ल पूर्णिमा संवत् १६०१ को समर्थ ने शिवाजी को परमार्थिक विषयों पर उपदेश दिया। शिवाजी के चले जाने पर उन्होंने अपने शिष्यों से बतला दिया कि अब थोड़े दिनों में शिवा इस संसार में न होगा। परम-योगी समर्थ की बात सच निकली। मौत आई। शिवाजी को ले गई। समर्थ ने इस शोक में अपनी कुटी से बाहर निकलना बन्द कर दिया। इस दुःख का कारण इनके एक शिष्य के पूँछने पर यह बतलाया था कि 'समर्थ का अवतार केवल शिवाजी के लिए हुआ था।'

शक संवत् १६०३ (१६८१ ई०) में आपका 'दासबोध' नामक ग्रंथ समाप्त हुआ। इसमें श्रीसमर्थ का सारा आध्यात्मिक ज्ञान भरा हुआ है। इसे दुहराकर शुद्ध किया। अब इन्होंने अन्नाहार त्याग दिया। दूध पीकर रहने लगे। शरीर क्षीण होने लगा। मुख की कान्ति बढ़ चली। अन्तकाल समीप आ गया। एक दिन अपने शिष्यों के सामने बोले—

'रघुकुल तिलकाचा वेल सन्नोध आला।
तदुपरि भजनानें पाहिजे संग केला॥'

अर्थात् रघुकुल-तिलक की प्रयाण-वेला निकट आ गई, अब एक साथ मिलकर भजन करना चाहिए। सब ने आज्ञा पाकर भजन करना आरम्भ किया। माघ कृष्ण ६, १६०३ (शक) को समर्थ चारपाई पर से उतर आये। प्राणायाम से वायु खींचने लगे। शिष्य-मण्डली रोने लगी। आप बोले कि क्या मेरे साथ रहकर रोना ही सीखा है? 'अब हम किसका उपदेश सुनेंगे—किससे आत्मज्ञान की बातें करेंगे?' रोने का यह कारण बतलाने पर श्रीरामदास ने उत्तर दिया कि मेरे न

होने पर जो मुझसे बातें करना चाहे, वह मेरे दासबोध आदि ग्रंथों को पढ़े। वहीं मैं दिल खोलकर बातें करूँगा।' तदनन्तर 'हरहर' और 'राम राम' कहते हुए उनका प्राणवायु अनन्त-पवन से जा मिला। फ़रवरी सन् १६८२ को भारतमही एक महाविभूति से विहीन हो गई। भक्ति, ज्ञान, तपस्या, त्याग एवं निस्पृहता की मूर्ति पृथ्वी से उठ गई।

इन श्रीसमर्थ रामदास के उपदेशों का भण्डार मराठी भाषा में रचित उनके दास-बोध, रामायण, पंच-समासी, राम-गीता, रामकृष्णास्तव, मानसपूजा आदि ग्रंथों में मिल सकता है। हिन्दी में भी सौभाग्य से इनका सर्वोत्तम ग्रंथ दासबोध अनुवादित हो चुका है। इस ग्रंथ-रत्न में श्रीसमर्थ ने अपने जीवन भर के अनुभव, बहुत ही रोचक ढङ्ग से लिखे हैं। इनका अध्ययन, मनन और व्यवहार करने से आध्यात्मिक उन्नति में बड़ी सहायता मिलती है। इसी कारण इस ग्रंथ का महाराष्ट्र प्रान्त में हमारे तुलसी के रामचरित-मानस का-सा मान है। 'देश का उद्धार करो, गो-ब्राह्मण की रक्षा करो, धर्म स्थापित करो, दुष्टों का विनाश करो, विद्या का प्रचार करो, मातृभाषा का गौरव बढ़ाओ'—आदि सदुपदेश ही जिस महानुभाव के मुख से सदैव छत्रपति शिवाजी के लिए निकला करते थे, जो अपने उपदेशों के साक्षात् व्यावहारिक स्वरूप थे, जिनमें कहने और करने का सम्मिलन था, वह थे समर्थ गुरु श्रीरामदास। ऐसे ही पुत्रों के जन्म से माँ की कोख धन्य और सार्थक हुआ करती है।

बुंदेलखंड-केशरी छत्रसाल।

राजपूताने की भाँति बुन्देलखण्ड भी वीरों का देश है। बुन्देला राजपूतों के द्वारा बसाये जाने का कारण यह प्रांत बुन्देलखण्ड कहलाता है। बुन्देला क्षत्रिय अपने को श्रीरामचन्द्र की संतति मानते हैं। इस वंश के रुद्रप्रताप ने १५३१ ई० में ओरछा की नींव डाली। महाराज रुद्रप्रताप के बारह पुत्र थे। उनमें से तीसरे, उदयाजीत, को महेवा की जागीर मिली। इनकी चौथी पीढ़ी में चंपतराय हुए। इन्हीं दिनों ओरछे में जुझारसिंह राज्य करते थे। इनके पिता बीरसिंह देव पर दिल्लीश्वर जहाँगीर की बड़ी कृपा थी। जुझारसिंह मुग़लों के ग़ुलाम नहीं रहना चाहते थे। शाहजहां यह कैसे सह सकता था? निदान जुझारसिंह को राज्यद्रोह का फल चखना पड़ा। वह ओरछा छोड़कर भागे। ओरछा मुग़ल-राज्य में मिला लिया गया। चंपतराय ने सारे बुन्देलखण्ड के सरदारों को इकट्ठा करके ओरछा का आन्दोलन उठाया। वह जुझारसिंह के पुत्र पृथ्वीसिंह को उसकी पैतृक संपत्ति दिलाना चाहते थे। मुगल-सेनापति बाक़ी ख़ां ने बुंदेल-सेना को पराजित कर दिया। पृथ्वीसिंह क़ैद हो गया। चंपत को कोई न पा सका। किन्तु इस संग्राम में चंपतराय का चौदह वर्षीय पुत्र सारबाहन काम आया। इसी विपन्नावस्था में जेष्ठ शुक्ल ३, संवत् १७०६ को जंगल में चंपतराय के चौथे पुत्र

छत्रसाल का जन्म हुआ। चंपतराय इन दिनों एक स्थान से दूसरे स्थान को भागकर लगातार पीछा करनेवाली मुग़ल-सेना से अपनी प्राण-रक्षा किया करते थे। ऐसी दशा में नवजात छत्रसाल का लालन-पालन तो दूर रहा, उनकी जीवन-रक्षा तक कठिन हो रही थी। एक बार तो शिशु छत्रसाल शत्रुसेना के बीच ही छूट गये थे। दैवयोग से किसी घोड़े की टाप इन पर न पड़ी, और यह जीते बच गये। इस स्थिति में चंपतराय ने छत्रसाल को अपने ससुराल भेज दिया। कुछ समय तक अपनी माँ कालीकुँवरि के साथ वहाँ रहने के बाद छत्रसाल फिर अपने पिता के पास बुला लिये गये। इन दिनों चंपतराय की स्थिति अत्यन्त अनिश्चित थी। उन्हें दिन-रात शत्रुओं से रक्षा करने के लिए भागना पड़ता था। छत्रसाल को बाल्यकाल से ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्होंने लड़कपन से ही कष्ट-सहने और सुख का नाम तक न लेने का कठोर अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। देश, धर्म और स्वतन्त्रता पर मर मिटने की अमिट शिक्षा छत्रसाल को पुस्तकों के स्थान पर अपने पिता के दैनिक चरित्र से मिलने लगी। उनके मन में वीरोचित भावनाओं का संस्कार जमाने के लिए इससे अधिक उपयुक्त पाठशाला और कौन थी ?

चंपतराय ने सोचा कि उनकी स्थिति सुधरने के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते। इसलिए छत्रसाल को शिक्षा-दीक्षा के लिए उनके ननिहाल भेज दिया। वहाँ वह छः वर्ष तक रहे। उन्हें भाषा और गणित का साधारण ज्ञान हो गया। क़लम की कला-बाज़ी दिखाने की अपेक्षा बालक छत्रसाल तलवार का नैपुण्य दिखाने में अधिक रुचि रखते थे। इसीलिए वे हथि-

थार चलाने और घोड़े की सवारी में बहुत निपुण हो गये। व्यायाम करने का भी उन्हें लड़कपन से ही शौक़ हो गया। इस प्रकार ग्यारह वर्ष की आयु में छत्रसाल पढ़ना-लिखना और अस्त्र-शस्त्र चलाना जान गये।

इसी बीच संवत् १७२१ में चंपतराय का देहान्त हो गया। पिता की मृत्यु के समय छत्रसाल अपने मामा के यहाँ थे। कुछ दिनों बाद वह अपने बड़े भाई अंगदराय के पास देवगढ़ गये। अंगदराय ने अपनी स्थिति पर विचारकर उनको सलाह दी कि इस समय उन लोगों में दिल्ली के बादशाह से लड़ते रहने की शक्ति नहीं है। छत्रसाल ने कुछ समझकर दिल्लीपति की नौकरी करना स्वीकार कर लिया। उन्हीं दिनों जयपुर-नरेश जयसिंह शिवाजी पर आक्रमण करने के लिए दक्षिण जा रहे थे। छत्रसाल उनसे मिले। जयसिंह ने उनका सम्मान किया। छत्रसाल शाही सेना के साथ हो लिये। आगे चलकर जयसिंह के स्थान पर बहादुर ख़ां मुग़ल सेनापति होकर आया। वह चंपत-राय का पुराना मित्र था। उसके आने पर छत्रसाल की आशाएँ और बढ़ीं। उन्होंने अपनी जान की परवा न कर देवगढ़ का क़िला तोड़ने में मुग़लों की मदद की। इस युद्ध में छत्रसाल को गहरी चोट लगी। उनके विश्वस्त घोड़े ने चौकसी करके आहत छत्रसाल की रक्षा की। सेनापति बहादुर ख़ाँ को उस वीर की खोज करने की चिन्ता तक न हुई, जिसने आगे बढ़कर हारती हुई मुसलमान सेना का उत्साह बढ़ाया था। देवगढ़-विजय के बाद छत्रसाल बहादुर ख़ां के साथ दिल्ली गये। वहाँ औरंगज़ेब ने छत्रसाल को उनकी सेवाओं के बदले कुछ भी उपाधि या जागीर न दी। छत्रसाल की समझ में आ

गया कि अपने सिद्धांत का, अपने पिता के आमरण-व्रत स्वतंत्रता के प्रण का, तिरस्कार करने से क्या फल मिल सकता है ! अतः उन्होंने अपने पिता की आज़ादी की लड़ाई फिर से जाग्रत करने का दृढ़ निश्चय किया।

इस जीवन-लक्ष्य की सिद्धि के लिए छत्रसाल ने किसी अनुभवी व्यक्ति की सम्मति लेना परमावश्यक समझा। उनकी दृष्टि तत्कालीन हिन्दुओं के एकमात्र आश्रय शिवाजी की ओर गई। दुर्गम पहाड़ियाँ और लम्बा रास्ता तय करके वे सिंहगढ़ पहुँचे। छत्रपति ने छत्रसाल का पूरा परिचय पाकर उनसे मिलकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने उनके उद्देश्य की प्रशंसा की ; उन्हें उत्साहित किया। अन्त में शिवाजी ने उनको यह सम्मति दी कि 'तुम अपने देश को जाओ। वहाँ से मुसलमानों को निकाल बाहर करने की योजना करो। मैं तुम्हें सब प्रकार आर्थिक और सैनिक सहायता दूँगा। इसके अनन्तर शिवाजी ने छत्रसाल को एक तलवार भेंट की। छत्रसाल कुछ समय तक सिंहगढ़ में रहे। उस बीच उन्होंने शिवाजी की नीति, संगठन-शक्ति, युद्ध-शैली आदि आवश्यक बातों का अध्ययन किया। फिर मुग़लों को बुन्देलखण्ड से निकाल बाहर करने का प्रण करके वे स्वदेश लौटे। शिवाजी और छत्रसाल की भेंट का स्मरणीय वर्ष संवत् १७२४ था।

दक्षिण से लौटते समय छत्रसाल ओरछा-नरेश सुजानसिंह से मिले। उन्होंने भी उनको प्रोत्साहित किया, और साथ ही सहायता देने का वचन दिया। छत्रसाल ने संगठन-कार्य आरंभ कर दिया। अपनी जन्म-भूमि के पास 'मोर' पहाड़ी पर छत्रसाल ने सं० १७२८ में डेरा डाला। आरंभ में उनके साथ पांच

सवार और पचीस पैदल थे। छत्रसाल के आज़ादी के झंडे के नीचे धीरे-धीरे मुसलमानी अत्याचार से पीड़ित बुन्देले वीर एकत्रित होने लगे। छत्रसाल के पास रुपया-पैसा तो था नहीं, और कोई साधारण काम तक बिना रुपये के नहीं हो सकता, इसलिए अपने साथियों की सलाह से उन्होंने मुग़लों और मुग़ल-सहायक राजाओं को लूटकर धन इकट्ठा करना आरम्भ किया। इस प्रकार छत्रसाल ने कई मुग़ल सूबेदारों को हराया। कई मुग़लों के हिमायती राजाओं ने उनकी अधीनता स्वीकार की। फिर उन्होंने अपने पिता को धोखा देकर मारनेवाले धमौनी के जागीरदार को हराया; उससे चौथ ली। फिर बांसा के राजा केशवराय को द्वंद युद्ध में परास्त किया; और उसके पुत्र विक्रमसिंह को अपना सहायक बनाया।

संवत् १७३५ में छत्रसाल ने ग्वालियर के सूबेदार
ख़ां पर आक्रमण किया। उसने बीस हज़ार रुपया देकर अपना पिंड छुड़ाया। फिर भेलसा के क़िले को जीतकर छत्रसाल ने उज्जैन तक फैले हुए देश पर अधिकार कर लिया। तदनन्तर धमौनी के सूबेदार सदरुद्दीन को हराकर उसके डेढ़ लाख रुपये दंड देने पर उसे कैद से छोड़ा। उसे जीतकर उन्होंने हमीद ख़ां और लतीफ ख़ां को हराया और आधुनिक बाँदा प्रांत पर अधिकार किया। छत्रसाल की इस सफलता का मुख्य श्रेय उनके गुरु प्राणनाथ-प्रभु को था। प्राणनाथजी ने छत्रसाल के लिए वही काम किया, जो समर्थ गुरु रामदास छत्रपति शिवाजी के लिए कर रहे थे। सच पूछा जाय, तो प्राणनाथ-प्रभु ही ने सारे बुन्देलखण्ड में घूम-घूमकर सोयी हुई जनता को आज़ादी का सन्देश सुनाया और उसको छत्रसाल का सहायक बनाया।

था। यह प्राणनाथ जी पहुँचे हुए साधु थे। इन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय के द्वारा हिन्दू-मुसलमानों का धार्मिक द्वेष शांत करने का भी यत्न किया था। इनके अनुयायी अब भी हैं। पन्ना में इन मुख्य ग्रंथ 'कुलज़म स्वरूप' [कुलज़म (अरबी) =सागर] अब तक वर्तमान है। इनके चरित्र और उपदेशों के प्रभाव से छत्रसाल इन्हें अपना गुरु मानने लगे थे। इन्हीं प्राणनाथ प्रभु के आदेशानुसार छत्रसाल ने संवत् १७४४ में अपने जीते देश के राजा का पद ग्रहण किया। उन दिनों बुन्देलखण्ड में प्रथा थी कि ओरछा-नरेश के द्वारा तिलक किये जाने पर ही कोई व्यक्ति राज-पद पा सकता था। छत्रसाल का अभिषेक ओरछा-नरेश को सूचित किये बिना ही हो गया। इस पर उसने उनको एक व्यंग-पूर्ण पत्र लिख भेजा। उसके उत्तर में छत्रसाल ने, जो स्वयं अच्छे कवि थे, अपना यह प्रसिद्ध कवित्त लिख भेजा—

सुदामा तन हेरे तब रंक हू ते राव कीन्हों,
विदुर तन हेरे तब राजा कियो चेरे तें।
कुबरी तन हेरे तब सुन्दर स्वरूप दीन्हों,
द्रोपदी तन हेरे तब चीर बढ्यो टेरे तें॥
कहत 'छत्रसाल' प्रह्लाद की प्रतिज्ञा राखी,
हिरनाकुश मारो नेक नजर के फेरे तें।
ऐसे गुरु ग्यानी अभिमानी भये कहा होत,
नामी नर होत गरुड़गामी के हेरे तें॥

इस सटीक उत्तर से ओरछा-नरेश लज्जित हो गया। छत्रसाल इस प्रकार स्वयं उपार्जित करके एक विस्तृत राज्य के अधीश्वर बन गये।

इन लगातार विजयों से छत्रसाल की धाक बैठ गई। इनके अनुयायियों और सहायकों की संख्या बढ़ चली। यह समाचार सुनकर औरंगज़ेब के कान खड़े हो गये। उसने छत्रसाल का दमन करने के लिए एक बड़ी सेना के साथ संवत् १७४६ में अब्दुस्समद को भेजा। बेतवा नदी के किनारे घमसान युद्ध हुआ। इस युद्ध का वर्णन हमारे राष्ट्रीय कवि भूषण के ओजस्वी शब्दों में सुनिए—

अत्र नृप छत्रसा लखिझ्यो खेत बेतवै के,
उतते पठान हू कीनो झुकि झपटैं।
हिम्मत बड़ी के गबड़ी के खिलवारन लौं,
देत सै हजारन हजार बार चपटैं॥
'भूषन' भनत, काली हुलसी असीसन कों,
सीसन कों ईस की जमाति जोर जपटैं।
समद लौं समद की सेना, त्यों बुँदेलन की,
सेलैं समसेरैं भईं बाडव की लपटैं॥

बुन्देल-बाडवाग्नि ने अब्दुस्समद रूपी समुद्र को सोख लिया। महाराज छत्रसाल के भी इस युद्ध में गहरे आघात लगे। स्वास्थ्य लाभ करने के बाद छत्रसाल ने फिर अपना काम प्रारम्भ कर दिया। संवत् १७५८ में उन्होंने मुराद ख़ां और दलेलख़ां को हराया। इसके बाद धमौनी के सूबेदार असमद ख़ां को कैद करके उससे दंड लिया और संवत् १७६१ में मुग़ल सेनापति शाहकुली को पूरी तरह हराकर उनका गर्व चूर किया। शाहकुली ने दंड-स्वरूप बहुत-सा धन देकर क़ैद से छुटकारा पाया था। इस प्रकार महाराज छत्रसाल ने एक विस्तृत देश-खंड पर अधिकार किया, और अपनी धाक पूरी तरह

जमा दी। उनके राज्य का विस्तार 'छत्र-प्रकाश' के रचयिता "लाल" कवि के शब्दों में यह था—

इत जमुना उत नर्मदा, इत चंबल उत टौंस।
छत्रसाल से लरन की, रही न काहू हौस॥

इस बीच संवत् १७६४ में औरंगज़ेब की मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर बहादुरशाह दिल्लीश्वर हुआ। उसमें औरंग-ज़ेब की-सी दृढ़ता न थी। उसने छत्रसाल को संवत् १७६५ में उनके अधिकृत देश का स्वामी स्वीकार कर लिया। उसने अपना मित्र बनाकर उन्हें मन्सबदारी देनी चाही। महाराज छत्रसाल ने बहादुरशाह से कहा कि भविष्य में वे दिल्ली-दरबार की समय पड़ने पर सहायता करने को प्रस्तुत रहेंगे। किन्तु जिस स्वत-न्त्रता के लिए उन्होंने कठिन कष्ट झेले थे उसे खोकर दिल्ली-दरबार का सेवक होना उनके लिए उचित नहीं। 'लाल' कवि के शब्दों में महाराज ने कहा कि—

'मनसबदार होइ को काको ? नाम बिसंभर सुनि जग बाँको।'

इसी प्रसंग पर यह कवित्त छत्रसाल का कहा हुआ प्रतीत होता है—

जाको मानि हुकुम सु-भानु तम नास करै,
चन्द्रमा प्रकासु करै नखत दराज कौ।
कहै 'छत्रसाल' राज-राज है भँडारो जासु,
जाकी कृपा-कोर राज-राज सुरराजकौ॥
जुग्म कर जोरि-जोरि हाजिर त्रिदेव रहैं,
देव परिचार गहैं जाके गृह-काज कौ।
नर की उदारता में कौन है सुधार ? मैं तो,
मनसबदार सरदार ब्रजराज कौ॥

अस्तु, इसके बाद फिर दिल्ली के बादशाह से महाराज छत्रसाल का युद्ध भविष्य में नहीं हुआ। बहादुरशाह ने भी उनका उचित सम्मान किया। किन्तु शांति-पूर्वक दिन बिता सकना कदाचित् उनके भाग्य में बदा ही न था। मुग़ल-साम्राज्य का एक पुराना सूबेदार मुहम्मद ख़ां बंगस जफ़रजंग औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् फरुख़ाबाद और इलाहाबाद का स्वतंत्र नवाब बन बैठा था। छत्रसाल की उन्नति उसकी आंखों में बहुत दिनोंसे खटक रही थी। उसने अस्सी हज़ार सेना लेकर संवत् १७८६ में उन पर चढ़ाई कर दी। उस समय महाराज छत्रसाल की अवस्था अस्सी वर्ष की थी। उनमें इतनी सामर्थ न थी कि उतनी बड़ी सेना का सामना करके पार पाते। इसलिए उन्होंने तत्कालीन पेशवा बाजीराव के पास सहायतार्थ यह दोहा लिख भेजा—

जो बीती गजराज पर, सो बीती अब आय।
बाजो जाति बुँदेल को, राखौ बाजीराय॥

बाजीराव ने छत्रसाल और शिवाजी की पुरानी मित्रता का स्मरण करके उनकी सहायता के लिए एक लाख मराठों की सेना भेज दी। बंगस की सेना घिर गई। छः महीने तक युद्ध हुआ। अंत में छत्रसाल की विजय हुई। छत्रसाल ने इस सहायता के बदले बाजीराव को आधुनिक झांसी कमिश्नरी के बाँदा, जालौन आदि प्रांत और सागर (मध्य प्रांत) भेंट किये।

यही अंतिम युद्ध था, जिसमें भी पूर्ववत् महाराज छत्रसाल विजयी हुए। इसके अनन्तर इन्होंने अपने पुत्रों को राज्य का यथोचित भाग बांट दिया। संवत् १७८८ में, तिरासी वर्ष की

आयु में, छत्रसाल ने अपने पुत्रों, मंत्रियों आदि को राजनीति की शिक्षा देते-देते संभवतः माघ शुक्ल तृतीया को इस लोक से प्रस्थान किया। आजकल के पन्ना, चरखारी, बिजावर, जिगनीं, सरीला आदि बुन्देलखण्ड के राजे महाराज छत्रसाल के ही वंशधर हैं।

ऊपर के पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि छत्रसाल उन लोगों में से थे जिनसे राष्ट्र बना करते हैं। पाँच-सात साथियों के साथ लुटेरे का-सा जीवन प्रारंभ करके दो करोड़ के लगभग वार्षिक आय के देश का अधिपति होकर मरना कोई हँसी खेल नहीं है। इस सफलता का मुख्य कारण है चरित्र की दृढ़ता। 'आजादी के दीवाने' छत्रसाल ने अपने पिता चंपतराय का प्रण पूरा करके यह सिद्ध कर दिया कि सच्ची लगन के होने पर मनुष्य सब कुछ कर सकता है। उसके मार्ग में आने वाली सारी कठिनाइयाँ एक-एक करके पानी हो जाती हैं। महाराज छत्रसाल में आत्माभिमान, जातीय गौरव और कुल-मर्यादा के प्रति सम्मान कूट-कूटकर भरा था। वह एकमात्र ईश्वर को ही अपने से बड़ा मानते थे। संसार का सब से समृद्ध और शक्तिशाली सम्राट् तक उनकी दृष्टि में कुछ न था। उनकी इस अविचल मनोवृत्ति का सबूत हम उन्हीं के शब्दों में देते हैं। उनका आत्म-परिचय विषयक यह कवित्त पढ़ने के ही योग्य नहीं, व्यवहार-रूप में परिणत करने के योग्य है—

ध्यानिन में ध्यानी और ग्यानिन में ग्यानी अहौं,
पंडित पुरानी प्रेम बाने अरथाने का।
साहब सों सच्चा, कूर कर्मनि में कच्चा,
छता, चंपत को बच्चा, सेर सूरवीर बाने का॥

मित्रन कों छत्ता, दीह शत्रुन कों कत्ता,
सदा ब्रह्मरस-रत्ता, एक कायम ठिकाने का।
नाहिं परवाही, न्यारा नौकिया सिपाही,
मैं तो नेही चाहवाही एक स्यामास्याम पाने का॥

जीवन-पर्यन्त युद्ध-क्षेत्र में शत्रुओं शिर रणचन्डी को भेंट करनेबाला 'क्रूर कर्मनि में कच्चा' था—यह कदाचित् बिरोधाभास-सा जान पड़े। किन्तु यह सन्देह यह समझ लेने पर दूर हो जाता है कि यह देखने में 'क्रूर कर्म' आज़ादी प्राप्त करने के लिए था, न कि किसी व्यक्तिगत उमंग को पूरा करने के लिए। महाराज छत्रसाल अत्यन्त नीति-निपुण शासक थे। उनका कहना था कि 'उस राज्य का बाल भी बांका नहीं हो सकता, जिसकी प्रजा संतुष्ट रहे और सेना दृढ़ हो।' छत्रसाल कैसे राज्य करते रहे होंगे—यह उनके निम्नांकित कवित्त से ज्ञात हो जाता है। उनके राज्य-धर्म का सार समझना चाहिए—

चाहौ धन धाम भूमि भूषन भलाई भूरि,
सुजस सहूर जुत रैयत कों पालियो।
तोड़दार घोड़ादार बीरन सों प्रीतिकरि,
साहस सों जीति जङ्ग, खेत में न चालियो॥
सालियो उदंडनि कों, दंडनि कों दीजो दंड,
करिकै घमंड घाव दीन पै न घालियो।
बिन्ती 'छत्रसाल' करै, होय जो नरेस देस,
रहै न कलेश लेस मेरो कह्यो पालियो॥

प्रायः रात-दिन रणचंडी की उपासना करनेवाले छत्रसाल सरस्वती के भी उपासक थे। वह स्वयं सहृदय कवि थे—यह उनके ऊपर उद्धृत किये हुए दो-चार कवित्तों से स्पष्ट हो

गया होगा। उनके सुन्दर काव्य-ग्रन्थों का एक संग्रह तीन-चार वर्ष हुए 'छत्रसाल-ग्रन्थावली' के नाम से प्रसिद्ध साहित्यिक कविवर वियोगीजी ने संपादित करके निकाला था। इस ग्रंथावली में भक्त, नीतिज्ञ और भावुक छत्रसाल के दर्शन होते हैं। गुणी ही गुणी का यथोचित सम्मान कर सकता है—यह सब जानते हैं, कवि छत्रसाल की ख्यातनामा राष्ट्रीय कवि भूषण से भेंट वाली घटना हमें इस समय स्मरण आ रही है। कहते हैं एक बार महाकवि भूषण शिवाजी के पौत्र साहू के दरबार से अपनी जन्मभूमि की ओर लौट रहे थे। मार्ग में वे महाराज छत्रसाल के यहाँ भी गये। उचित सत्कार के बाद विदा करते समय महाराज ने स्वयं कविराज की पालकी अपने कंधे पर उठा ली। यह ज्ञात होने पर भूषण पालकी से कूद पड़े। उन्हें छत्रसाल की वीरता का पूर्ण ज्ञान था ही। उनकी इस गुण-ग्राहकता ने कविवर के मुँह से यह कवित्त तत्कालनि कलवा दिया—

राजत अखंड तेज, छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफ़ताब होत,
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को॥
साज सजि गज तुरी पैदर कतार दीनें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को।
और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहों कै सराहों छत्रसाल को॥

भूषण ने अपने 'छत्रसाल दशक' में ओजस्वी छंदों द्वारा इस हिन्दू धर्म-रक्षक वीर का यशोगान करके अपनी सच्ची

वीर-पूजा की भावना का परिचय दिया है। वीरश्रेष्ठ छत्रसाल का हिन्दू-धर्म की रक्षा में, हिन्दू-स्वातन्त्र्य-संग्राम में वही स्थान है जो छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह अथवा महाराणा प्रतापसिंह का। इसी वीर ने बुन्देलखण्ड का वीर प्रसविनी भूमि होना सिद्ध किया था।

गुरु गोविन्दसिंह

क्ख धर्म का आरम्भ गुरु नानकदेव के द्वारा हुआ था। इनका जन्म संवत् १५२६ वैक्रमीय में हुआ था। सं० १५९५ में इनकी मृत्यु के बाद क्रमशः अङ्गद, अमरदास, रामदास, अर्जुन देव, हरगोबिन्ददेव, हररामदेव, हरकिशनदेव और तेगबहादुर सिक्खों के आचार्य हुए। तेगबहादुरजी नवें गुरु थे। यह संवत् १७२१ में पैदा हुए थे। इनके जीवनकाल में दिल्ली में औरङ्गजेब राज्य करता था। हिन्दुओं को ज़बरदस्ती मुसलमानी धर्म स्वीकार कराने में उसके आदमी नाना प्रकार के अत्याचार कर रहे थे। देश में चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। गो-ब्राह्मण और शिखा-सूत्र का विनाश किया जा रहा था। धर्मप्राण तेगबहादुर से यह दशा देखी न गई। काश्मीर के कुछ ब्राह्मणों ने इनसे रक्षा करने की प्रार्थना की। यह दिल्ली पहुँचे। औरङ्गज़ेब को उसके अत्याचारों के लिए फटकार बताई। उसने इनसे इस्लाम अङ्गीकार करने को कहा। इन्होंने इन्कार किया। दो महीने अनेक प्रकार के कष्ट दिए जाने पर भी यह अपने धर्म से न डिगे। बादशाह ने इनका वध कर डालने की आज्ञा दी। जप जी पाठ करने में मग्न तेगबहादुर का सर धड़ से अलग कर दिया गया। इनका सर इनके

नौ वर्ष के पुत्र गोबिन्दसिंह के पास पहुँचा। पहले तो वह विचलित हुए, पर तुरन्त ही हिम्मत बाँधकर उन्होंने प्रण किया कि अपने पिता के रक्त से पवित्र हुए सिक्ख धर्म की रक्षा और उन्नति में अपना जीवन आहुति कर देंगे।

इन गोविन्दसिंह का जन्म पटना में पौष कृष्ण १३ शुक्रवार संवत् १७२३ में हुआ था। जन्म के समय इनके पिता तीर्थ-यात्रा में थे। ५ वर्ष की उम्र तक यह अपनी माँ, दादी आदि के साथ पटने में ही रहे। गुरु तेगबहादुर तीर्थाटन से लौटे। उनके बुलाने से गोबिन्दसिंह अपनी पितृभूमि आनन्दपुर पहुँचे। वहाँ पढ़ना-लिखना सीखने, शिकार खेलने और अपनी प्रतिभा से लोगों को चकित करने में इनका समय बीतने लगा। इसी बीच तेगबहादुर दिल्ली पहुँचे और वहाँ शहीद हुए। दिल्ली जाने के पहले उन्होंने बालक गोबिन्दसिंह को बुलाया। गद्दी सौंप कर बोले—"बेटा, अब तुम्हें अकाल पुरुष की सेवा करनी होगी। सनातनधर्म, श्री वाह गुरू का हुकम मानना और उसका प्रचार करना होगा। बलवान् दुष्ट के दमन करने का बल और निर्बल धर्म्मभीरु की रक्षा करना होगा।" अस्तु, पिता की मृत्यु के बाद गोबिन्दसिंह ने हिन्दुओं की मूर्खता, कायरता, आडम्बर-प्रियता और अन्धभक्ति को दूर करके उन्हें जगाने और प्रबल राष्ट्र बनाने का संकल्प किया।

ऐसा कर सकने के लिए उन्होंने शक्तिशाली बनना आरम्भ किया। अपने सेवकों को लेकर वे तीर चलाने का अभ्यास करने लगे। इनकी सेना में नित्य नये आदमी भर्ती होने लगे। इन्होंने आस-पास के हिन्दू राजाओं को बुलाया। उनसे मुसलमानों के द्वारा देश और धर्म की जो दुर्दशा हो रही थी उस

का बड़े मार्मिक शब्दों में वर्णन किया। फिर यह कहा कि इनकी रक्षा करने के लिए मिलकर उद्योग करना चाहिए और धर्म के लिए प्राण देने से बढ़कर दूसरी मौत नहीं। किन्तु यह राजा बहुत कायर थे। सारा क्षत्रित्व खो चुके थे। इन्होंने उल्टे विलासपुरनरेश भीमसिंह के भड़काने से गोबिन्दसिंह पर ही चढ़ाई कर दी। इनकी सेना में दस हज़ार सिपाही थे। गुरु के पास इस समय केवल दो हज़ार आदमी थे। तो भी वह ज़रा भी न घबड़ाये। तीन दिन ख़ूब युद्ध हुआ; अन्त में जीत गोबिन्द-दल की ही हुई।

इस युद्ध में गोबिन्दसिंह की वीरता और रणचातुरी देखकर पहाड़ी राजाओं ने उनका लोहा मान लिया। उन्होंने इनसे मित्रता करने में अपनी भलाई समझी। इन्हें भी आपस की फूट पसन्द न थी। मैत्री हो गई।

आगे की लड़ाइयों का वर्णन करने के पहले थोड़े शब्दों में गोबिन्दसिंह के धार्मिक संगठन का हाल बतला देना अच्छा होगा। जब गुरु प्रायः तीस वर्ष के हुए, तब उनके चित्त में सिक्ख धर्म का सुधार करने की भावना दृढ़ हो चुकी थी। उन्होंने सिक्ख लोगों को केवल भक्तिप्रधान धर्म माननेवाला न रहने देने का संकल्प लिया। उन्होंने निश्चय किया कि सिक्खों की एक सुदृढ़ और योद्धा जाति बन जाय। उन्होंने इस उद्देश्य से बैसाखी के मेले में शामिल होने के लिए लोगों को बुलाया। बहुत भीड़ इकट्ठी हुई। सभा की गई। उसमें गोबिन्दसिंह ने लोगों से पूछा कि क्या कोई उनके लिए अपना जीवन बलिदान करने को तैयार है? कड़ी परीक्षा का अवसर था। पाँच ऐसे व्यक्ति निकल आये, जो प्रसन्नता से गुरु के लिए मरने को

तैयार थे। अन्य उपस्थित लोगों पर भी उनकी वीरता का अच्छा प्रभाव पड़ा। गोविन्दसिंह बोले—नानकदेव के समय से सिक्ख लोग गुरु का चरणोदक लेते आ रहे हैं। यह तरीक़ा अच्छा नहीं। अब खालसा की रक्षा वीरता और युद्ध-चातुरी से ही हो सकती है। इसलिए मैं दीक्षा-संस्कार में परिवर्तन करता हूँ। अब पानी में कृपाण डुबाकर उसे लोगों पर छिड़क देने से सिक्ख धर्म की दीक्षा हो जायगी। इसके बाद उपर्युक्त पाँचों आदमियों को उन्होंने इस तरीक़े से सिक्ख-धर्म की दीक्षा दी। फिर उन्हें पञ्च 'ककार'—केश, कंघा, कृपाण, कच्छ और कड़ा—धारण करने का उपदेश दिया। उन्हें सिखलाया कि कभी बैरी को पीठ न दिखाना, परस्त्री पर बुरी निगाह न डालना, सारे सिक्खों को एक जाति का मानना, मूर्तियाँ, क़ब्रें या समाधियाँ न पूजना, एक अनन्त ईश्वर को मानना, प्रातः-काल उठकर नहाना, 'जपजी' का पाठ करना, ईश्वर का ध्यान करना और मुसल्मानों के ढंग से क़त्ल किये जान-वरों का मांस न खाना। इन पाँचों शिष्यों को उन्होंने 'पंच प्यारे' कहकर पुकारा। इसके बाद अन्य लोगों ने उपर्युक्त ढंग से दीक्षा ग्रहण की।

अब गुरु गोविन्दसिंह ने आज्ञा प्रचारित की कि जिस सिक्ख-गृह में चार बालिग़ पुरुष हों, उसे दो उनके काम के लिए दे देने चाहिए। थोड़े दिनों में ८०,००० की सेना इकट्ठी हो गई। उन्होंने उन लोगों को समानता, आज़ादी और भ्रातृभाव का उपदेश दिया, उनकी रगों में जातीय अभिमान भर दिया। इन उपदेशों का प्रभाव यह हुआ कि सिक्खों में बहुत वीरता और साहस आने लगा और वे प्रेम और एकता के साथ रहने

लगे। जहां कहीं दमन या अत्याचार होता, सिक्ख वहाँ पहुँचने और निर्बलों की सहायता में तत्पर देख पड़ने लगे।

पहाड़ी राजाओं पर गुरु गोविन्द की विजय का हाल ऊपर लिखा जा चुका है। यह भी लिखा जा चुका है कि इन राजाओं ने इनसे मित्रता करने में ही अपनी ख़ैर समझी थी। ऊपरी तौर से मित्रता तो हो गई थी, पर राजाओं का दिल साफ़ न था। वे मौक़ा पाकर इन्हें नीचा दिखाने की तरकीबें सोचा करते थे। यह तो थी भीतरी बात। परन्तु ऊपर से इन राजाओं ने गोविन्दसिंह के कहने से औरंगज़ेब को ख़िराज देना बन्द कर दिया। आसपास के लोग भी इन्हीं को अपना असली राजा मानने लगे। औरंगजेब के आदमियों की परवा न होने लगी। इन्हीं दिनों औरंगजेब दक्षिण भारत को जीतकर अपने राज्य में मिलाने के लिए शिवाजी से मोरचा ले रहा था। मराठा वीर ने उसकी नाक में दम कर रखा था। इधर पंजाब में गुरुगोविन्दसिंह का बढ़ता हुआ प्रभाव सुनकर तथा अन्य राजपूत राजाओं के कर देने से इन्कार करने का समाचार पाकर उसने एक बड़ी सेना गोविन्द को दबाने के लिए भेजी। पहाड़ी राजाओं पर हमला हुआ। उन्होंने मिलकर सामना किया, पर मुसलमानी फ़ौज के सामने इनकी एक न चली। अन्त में गुरु गोविन्दसिंह से सहायता के लिए प्रार्थना की। गुरु साहब ने अपनी सेना तो भेजी ही, साथ ही स्वयं भी रणक्षेत्र में जा पहुँचे। सिक्खों की तलवार के वार देखकर मुग़लों के छक्के छूट गये। उनकी सेना भाग खड़ी हुई। गुरु के सिर जीत का सेहरा बँधा।

इस जीत का हाल सुनकर लाहौर का सूबेदार दिलावर

खाँ झुँझला उठा। एक बड़ी सेना लेकर उसने तुरन्त आनन्द-पुर पर, जहाँ गुरूजी का मुख्य स्थान था, चढ़ाई कर दी। सिक्ख लोग भी अचेत न थे। 'वाह गुरू की फ़तेह' 'वाह गुरू का खालसा' आदि के नारे लगने लगे। सिक्खों के तीरों के निशाने अचूक थे। उन्हें चलते देखकर मुसलमानों के होश फ़ाख्ता हो गये। अन्त में जो थोड़ी सी यवन-सेना बची, उसने भागकर अपने प्राण बचाये। इस पराजय से उत्तेजित हो दिलावर ने फिर से एक के बाद दूसरी सेना गोविन्दसिंह का दमन करने के लिए भेजी, पर उसका भी वही हाल हुआ जो पहली बार हो चुका था। इन लगातार हारों का हाल ज्यों ही औरंगज़ेब के पास पहुँचा, उसने एक बड़ी भारी सेना देकर अपने शाहज़ादे मुअज्ज़म को पंजाब भेजा। पहाड़ी राजाओं पर अनेक अमानुषिक अत्याचार करते हुए मुग़ल सेना ने आनन्द पुर घेर लिया। गोविन्दसिंह के पास इस समय बहुत थोड़ी फ़ौज थी। इससे उन्होंने क़िले के भीतर ही रहने का निश्चय किया। रात में जब मुग़ल ग़ाफ़िल हो गये तो सिक्खों ने अचानक उनपर हमला करके तहस-नहस कर डाला। मुअज्ज़म ने सावधान होकर आक्रमण करना आरम्भ किया। पर उसके सारे हमले व्यर्थ हुए। इसी बीच पहाड़ी राजाओं ने भी अपने बैर का बदला चुकाने का अच्छा अवसर समझा। उन्होंने बीस हज़ार के सेना लेकर गुरूजी पर हमला कर दिया। घमासान युद्ध हुआ। जब अन्त में उन्हें भी मुँहकी खानी पड़ी, तो सर-हिन्द के सूबेदार से सहायता मांगी गई। उसने चतुर सेना-पतियों को गुरुगोविन्द को परास्त करने का काम सौंपा। कई दिन तक आक्रमण सहते-सहते गुरू की सेना बहुत थोड़ी रह

गई थी, खाने-पीने की सामग्री भी समाप्त होगई थी। एक-एक मुट्ठी चना चबाकर सिक्ख वीर लड़े। कई दिन तो उन्होंने केवल पानी पीकर युद्ध किया। इतने पर भी जब मुग़लसेना न हटी, तो बचे-खुचे सिक्ख सैनिकों को साथ लेकर भाग निकलने की युक्ति रची गई।

कुछ दिनों बाद मौक़ा पाकर गोविन्दसिंह फिर आनन्दपुर आये और धीरे-धीरे युद्ध की सारी वस्तुएं इकट्ठी करने लगे। पहाड़ी राजा इनके शत्रु तो थे ही। उन्होंने औरंगज़ेब को पत्र लिख भेजा कि आपकी सल्तनत में गोविन्दसिंह के मारे हम लोग अमन-चैन से नहीं रहने पाते, वह दिल्ली पर भी शीघ्र ही हमला करनेवाला है और आपके राज्य का नामोनिशान मिटाने की तरकीब सोच रहा है। इसलिए आप शीघ्र सचेत हो जाँय। हिन्दुओं पर कलंक का अमिट टीका लगानेवाली यह सूचना पाते ही औरंगज़ेब झल्ला उठा। उसने सरहिंद और लाहौर के सूबेदारों को हुक्म दिया कि गोविन्दसिंह को पकड़कर तुरन्त मेरे सामने हाज़िर करो। सिक्खों को भी औरंगज़ेब के इस हुक्म का पता लग गया। चारों ओर से उनके दल के दल आनन्दपुर में इकट्ठे होने लगे। धर्म पर वलिदान होनेवाली थोड़ी सी सिक्ख सेना ने असंख्य मुग़ल-सेना का सामना किया। पांच दिन तक लगातार लोहा बजा। मुसलमानी फौज की बड़ी हानि हुई। सम्मुख युद्ध में जीत होने की आशा न रह गई। इसलिए मुग़लों ने निश्चय किया कि क़िले में घेरा डाल देना चाहिए। आनन्दपुर के चारों ओर कोसों तक मुसलमानी सेना का ही पड़ाव नज़र आने लगा। क़िले के भीतर बाहर से खाने-पीने की कोई चीज़

न पहुँच पाने लगी। वहाँ सिक्खों ने कई दिन साग-पात और चना खाकर बिताये। कई दिन हवा खाकर रहना पड़ा। अब कुछ सिक्ख घबड़ाने लगे। उन्हें प्राणों के मोह ने आ घेरा। वे आग्रह करने लगे कि बाहर निकलकर जान बचाई जाय। विवश हो गुरु गोविन्दसिंह ने कहा कि जो लोग प्राणों के लोभ से गुरू-शिष्य का सम्बन्ध छोड़कर बाहर जाना चाहें, चले जायँ। केवल पचास को छोड़कर बाकी सब ने ऐसे संकट-पूर्ण समय में अपनी जान का मूल्य ज़्यादा समझा। इन पचास गुरुभक्त सेवकों को गोविन्दजी ने बहुत प्रशंसा की। फिर अपनी माता, स्त्री, पुत्रों और इन वीरों को साथ लेकर वे आधी रात के समय क़िले से बाहर निकले। मुसलमानों को इसका पता लग गया। गुरू-दल घिर गया। युद्ध होने लगा। सिक्खों की संख्या इनी-गिनी थी। वे कब तक अगणित मुसलमानों का सामना कर सकते थे? उनमें से बहुत से वीर काम आये। अब गुरूजी के साथी तितर-बितर होगये। उनकी माता और दो छोटे बच्चे, जोरावरसिंह और फ़तेह-सिंह अलग हो गये और स्वयं वह अपने तीन पुत्रों के साथ अलग पड़ गये। गुरुमाता और पुत्रों को गंगाराम नामक ब्राह्मण के यहां शरण मिली, और गोविन्दसिंह अपने पुत्रों के साथ प्राण बचाते हुए अपने एक छोटे से क़िले में, जो चमकौड़ गाँव में था, पहुँचे।

मुसलमानों को पता चल गया कि गोविन्दसिंह चमकौड़ में हैं। उन्होंने उसे घेर लिया। थोड़े से सिक्ख सरदारों ने मोरचा लिया। युद्ध में अठारह वर्ष के अजीतसिंह और चौदह वर्ष के जुझारसिंह नामक गोविन्दसिंह के दो बेटे मारे गये। गुरुसाहब

साहब ने ठान लिया कि दूसरे दिन युद्ध करने का निश्चय किया। किन्तु उनके साथियों ने कहा कि यदि दुर्भाग्य से आपके शरीर को कुछ होजाय तो इस समय सिख जाति का सर्वनाश होजायगा; और आपका महान् काम पूरा न हो सकेगा। अतः कुछ थोड़े से शिष्यों को साथ लेकर गोविन्द जी मालवा की ओर चले गए।

हां, अब गुरु-माता और पुत्रों की ओर आइए। इन लोगों को पहले तो गंगा ने अच्छी तरह रखा पर दो-एक दिन बाद इनका धन देखकर उसका मन डोल गया। उसने उसे उड़ा दिया। इतना ही नहीं उसने अपना दोष छिपाने के विचार से मुग़ल अफ़सर को उनका अपने यहां होने का पता बतला दिया। वृद्धा और बच्चे तुरन्त क़ैद करके सरहिंद के सूबेदार के पास भेज दिए गए। सूबेदार ने गोविन्दसिंह से अपने पुराने बैर का बदला लेने का अच्छा मौका पाया। उसने अपने मंत्रियों की सलाह से निश्चय किया कि यदि यह बच्चे मुसल्मान हो जाना स्वीकार न करें तो इनका बध करवा देना चाहिए। अतः दोनों लड़के दरबार में बुलाए गए। उनके हटाए जाते समय वृद्धा गोविन्दमाता ने कहा कि बेटा घबड़ाना मत और मरते दम तक अपना धर्म न छोड़ना। अपने सामने पहुँचने पर सूबेदार ने उनसे कहा कि तुम इस्लाम धर्म स्वीकार कर लो। यदि मुसल्मान हो जाओगे तो तुम्हें नाना प्रकार के राजसी सुख मिलेंगे। नहीं तो तुम क़त्ल कर दिए जाओगे। सिंह-शावकों ने मुंह तोड़ उत्तर दिया कि हमारा विश्वास है कि यदि धर्म छोड़ने पर स्वर्ग भी मिलता हो तो वह नरक से गया बीता है।

दोनों बच्चों को अलग-अलग बहुत समझाया गया, बहुत से प्रलोभन दिए गए और बहुत सी धमकियां दी गईं पर इनका कुछ असर न हुआ। सूबेदार के कुछ साथियों को इन बच्चों की छोटी उम्र और वीरता भरी बातों पर तर्स आया। किन्तु धर्मान्ध काजी ने सुझाया कि सांप के बच्चों को ज़िन्दा रहने देने से ख़ैर नहीं। अन्त में यह निश्चय किया गया कि इन लोगों को ख़ूब कष्ट दिया जाय। इतने पर भी यदि यह इस्लाम धर्म स्वीकार न करें तो इन्हें जहन्नुम पहुँचा दिया जाय। इसलिए दोनों किशोर भाइयों को एक साथ खड़ा करके ज़िन्दा दीवार में चुन देने का हुक्म दिया गया। बीच-बीच में इनसे पूछा गया कि क्या अब भी तुम अपना धर्म छोड़ना पसन्द करते हो या नहीं। किन्तु यह दोनों शेर के बच्चे पहले की भांति अपने संकल्प से टस से मस न हुए। 'सत श्री अकाल और 'ओ३म्' का उच्चारण करते हुए वह 'अकाल-लोक' में पहुँने की प्रतीक्षा करने लगे। अन्त में सिर से ऊपर तक ईटें चुन दी गईं और दो सिंह जीते जी गाड़ दिये गये। ऐसी असह्य और विचित्र मृत्यु स्वीकार की, किन्तु अपने धर्म से न डिगे। धन्य है वह माँ जिसने ऐसे अनुपम वीर बच्चों को अपनी कोख में रखा और धन्य है वह पिता जिसने ऐसे अलभ्य पुत्र-रत्न पैदा किये। इन वीरों की प्रशंसा में कितने ही पृष्ठ रंगे जा सकते हैं, किन्तु हमें तो पूरा वर्णन लिखने का अप्रिय काम करना है। हाँ, ज्योंही वृद्धा गोविन्द-जननी को इस पाशविक अत्याचार का समाचार मिला, वह किले के बुर्ज़ पर से नीचे कूद पड़ीं, और अपने पौत्रों के साथ ही अमरधाम जा पहुँचीं।

गुरु गोविन्दसिंह को भी उक्त असह्य संवाद मिले। वे विचलित नहीं हुए। वे फिर सेना एकत्रित करके अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गये। इन्हीं दिनों औरंगज़ेब ने पत्र भेजकर उन्हें दिल्ली आने के लिये निमंत्रित किया। उन्हें उसका छल मालूम था, इसलिए उन्होंने औरंगजेब के बचनों पर यक़ीन नहीं किया। इसके उत्तर में उन्होंने फ़ारसी में एक पत्र लिखा, जो बहुत प्रसिद्ध है। स्थानाभाव के कारण हम उस पत्र का अनुवाद नहीं दे सकते। उसमें इनके साहस, शक्ति, महान् धर्मप्रेम और नैतिक महत्व का पूरा आभास मिलता है।

इसके बाद गुरु ने अपनी स्मृति से ग्रंथ साहब का संग्रह किया। फिर लोगों को अपने धर्म का उपदेश देते हुए राजपूताना की ओर गये। पुष्कर में इन्हीं दिनों इनको औरंगजेब के मरने का समाचार मिला। यहीं उनके पास बहादुरशाह के विश्वासपात्र नौकर उसकी यह प्रार्थना लेकर पहुँचे कि वे राजगद्दी लेने में उसके भाइयों के ख़िलाफ़ उसकी मदद करें। दो हज़ार चुने सैनिकों के साथ वे दिल्ली पहुँचे। वहाँ इनकी सहायता से बहादुर ने अपने छोटे भाई आजमशाह पर विजय पाई। इसके बदले उसने इन्हें बीस लाख अशर्फ़ियां भेंट कीं, और अपने साथ में लेकर दक्षिण की ओर गया।

यहां सिखों और मुसलमान सिपाहियों में झगड़ा होगया। इस पर गोविन्द जी ने बहादुरशाह का साथ छोड़ दिया। वह अकोला, खानदेश आदि स्थानों में होते हुए नादेड़ नामक गाँव पहुँचे। वहाँ माधवदास एक बैरागी गोदावरी के किनारे रहता था। उसकी प्रतिभा देखकर गुरुजी को माधव के प्रति स्वाभाविक प्रेम हो गया। थोड़े दिन बाद उसका 'अमृत संस्कार'

करके उसे अपना शिष्य बनाया। यही आगे चलकर सिख इतिहास बन्दा वैरागी नाम से प्रसिद्ध हुआ। बन्दा के इन्होंने एक तलवार और अपने तरकस से पाँच तीर देकर पंजाब में अपना काम सँभालने को भेजा। साथ ही ब्रह्मचर्य धारण करने, सत्य बोलने,सोचने और करने,खालसा का सदैव अनुचर रहने,अपना मत अलग न चलाने और सदैव निरभिमान रहने की आज्ञा दी। बन्दा अपने गुरु पुत्रों का बदला लेने सरहिन्द की ओर गया। वहां उसने हत्यारे सूबेदार को कैद करके उसे उचित दंड दिया।

इधर गुरु गोविन्दसिंह अपना काम वीर बन्दा को सौंप कर गोदावरी के किनारे भगवान की उपासना में समय बिताने लगे। गुरु नानक के धर्म में जाति-पांति, रंग अथवा देश का भेद नहीं है। इसके अनुसार वे सब जाति और धर्म वालों को अपने धर्म का उपदेश दिया करते थे। एक दिन उन्होंने धर्म के नाम पर विजातियों और विधर्मियों का ख़ून करने वाले धर्मान्धों की निन्दा की। श्रोताओं में एक मुसलमान भी था। उसे कुछ मुसलमानों ने भड़काया। मौका पाकर उसने आधी रात में सोते हुए गुरु के पेट में कटार भोंक दी। गुरुजी तुरन्त जागकर पास रखी हुई तलवार से उस हत्यारे को ढेर कर दिया। घाव की मरहम पट्टी हुई। वह धीरे-धीरे अच्छा होने लगा। अभी पूरी तरह अच्छा न होने पाया था कि इसी बीच बहादुरशाह के भेजे हुए दो प्राचीन धनुष उनके पास आए। उपस्थित लोगों ने आश्चर्य किया कि इतने भारी धनुष को आजकल शायद कोई न चढ़ा सके। गोविन्द जी से यह बात न सही गई। तुरन्त उन्होंने धनुष पर रोदा चढ़ाकर तीर

चला दिया। लोगों को अचम्भा हुआ कि बीमार होते हुये भी उनमें इतना बल है। धनुष तो चढ़ गया, पर गुरु देव के घाव के कच्चे टांके इस परिश्रम के कारण टूट गये। रक्त बह चला। उन्हें मालूम होने लगा कि अब उनके इस संसार से जाने के दिन आ गये। उन्होंने अपने पाँचो शस्त्र धारण कर, फौजी पोशाक पहन ली। पीठ पर ढाल लटका ली। वीर वेश में बैठ गये। ग्रंथ साहब का पाठ होने लगा। शिष्यों को उपदेश दिया और सत श्री श्रीकाल तथा ओ३म् का उच्चारण करते-करते शरीर छोड़ दिया। इस दिन कार्तिक शुक्ल की पंचमी थी। इस प्रकार संवत् १७६५ में ४२ वर्ष की आयु में प्रतापी गुरु के प्राण-पखेरू इस लोक से उड़कर अनन्त लोक जा पहुँचे।

आजकल की वीरता में अद्वितीय सिख जाति के असली निर्माता गोविन्दसिंह ने अपना जीवन देश, धर्म और जाति की सेवा में दिया। वह समाज सुधारक, योद्धा, पवित्र साधु और सुकवि थे। हिन्दी में उनके बनाये हुए बहुत से छन्द ग्रंथसाहब में पाये जाते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय धर्म की नींव डाल कर सिखों की जीवित जाति को जन्म दिया और अपने को नश्वर शरीर के न रहने पर भी सदा के लिये अमर कर दिया।

महादजी सिन्धिया

त्रपति शिवाजी की मृत्यु के बाद उनके पौत्र साहू जी गद्दी पर बैठे। अपने पिता संभाजी के मारे जाने पर लड़कपन में ही इन्हें मुग़लों की क़ैद में रहना पड़ा था। इस कारण इनमें राज्य-संचालन की शक्ति न थी। अस्तु राज्य का सारा प्रबन्ध बालाजी विश्वनाथ पेशवा के हाथ में था। यह बहुत ही शक्तिशाली पुरुष थे। इनके पुत्र बाजीराव इनसे भी बढ़कर निकले। इनकी इच्छा यह हुई कि महाराज शिवाजी के नींव डाले हुए हिन्दू-साम्राज्य की फिर से स्थापना की जाय। इस अभिप्राय से इन्होंने महराष्ट्र सेना की वृद्धि और पुष्टि करना आरम्भ किया। सेना में एक समुदाय तो नियमित वेतन पाने वाले सिपाहियों का था, और दूसरा ऐसा वर्ग था जिसे लूट का यथोचित भाग मिलता था। दूसरे प्रकार के सिपाही 'शिलेदार' कहलाते थे। सन् १७२७ में बाजीराव ने रानोजी शिंदे, मल्लारिराव होल्कर और ऊदाजी पँवार नामक शिलेदारों को मालवा जीतने के लिए भेजा। इन्होंने इस काम में सफलता पाई। मालवा इन्हीं तीन सरदारों में बाँट दिया गया। क्रमशः ग्वालियर, इन्दौर और धार के राज्यों का आरम्भ हुआ। उक्त तीनों वीर शिंदे (सिन्धिया), होल्कर और पँवार राजवंशों के प्रथम पुरुष हुए। पेशवा और इन तीन मराठा वीरों ने इस प्रकार 'महाराष्ट्र-संघ' स्थापित किया।

उपर्युक्त रानोजी के पाँच पुत्र थे। जयापा, दत्तोजी, तोबियर, तुकाजी और माधाजी। अन्तिम दो अनौरस थे। औरस सन्तानों में दत्तोजी सब से योग्य था। वह और उसके भाई तथा उनके बाद जयापा का पुत्र जनकोजी पानीपत की तीसरी लड़ाई में अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध लड़े और मारे गये। तदनन्तर पेशवा की सम्मति से माधाजी जागीरदार बनाये गए। यही माधाजी चलकर आगे महादजी शिंदे अथवा माधवराव सिन्धिया कहलाए। सम्भवतः १७३३ ई० के लगभग इनका जन्म हुआ था। पानीपत की उक्त प्रसिद्ध लड़ाई में यह भी गये थे। तीस वर्ष की आयु में उन्हें जागीर मिली। अनौरस पुत्र होने के कारण बहुत से लोग इनके राज्य पाने के विरोधी थे। स्वयं पेशवा के चचा राघोबा इनके भतीजे, तुकाजी के बेटे केदारजी को राजा बनाना चाहते थे। महादजी को इन विरोधियों से अपनी रक्षा करना था। दूसरे वह अपनी जागीर भी बढ़ाना चाहते थे।

इन्हीं दिनों दिल्ली के सम्राट् नामधारी शाहआलम बंगाल के नवाब मीरक़ासिम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ अँगरेज़ों से लड़े। बक्सर के युद्ध में यह तीनों मुसलमान हारे। दण्ड स्वरूप शाहआलम ने कम्पनी को बंगाल और बिहार-उड़ीसा की दीवानी दी। और स्वयं दिल्ली छोड़कर अँगरेज सैनिकों की देखरेख में इलाहाबाद में जीवन बिताने लगा। दिल्ली का शासन इस समय नजीबुद्दौला के साथ में था। १७६६ ई० के लगभग मराठा सरदारों की सम्मिलित सेना ने दिल्ली पर हमला किया। इसके नेता वीसाजी कृष्ण थे। माधवराव सिन्धिया और तुकोजी होल्कर भी अपनी १५,०००

फौज लेकर इस चढ़ाई में शामिल हुये। जयपुर, भरतपुर जीतती हुई मराठी सेना दिल्ली पहुँची। नजीबुद्दौला इस विशाल सेना का सामना करने में असमर्थ था। उसने तुकोजी को मिलाकर सन्धि का प्रस्ताव किया। मराठों को चम्बल और जमुना के मध्य का देश देना स्वीकार किया। माधवराव को यह बात पसन्द न आई। उन्होंने इसका विरोध करते हुए कहा कि जिन मुसलमानों के हाथ मेरे भाई भतीजे मारे गए हैं मैं उनसे बदला लिये बिना नहीं रह सकता। मेरे साथ उन्हीं मुसलमानों से मेल करवाना चाहते हैं—यह ठीक नहीं। फिर भी पेशवा का सेवक होने के कारण उनकी इच्छा के विरुद्ध मैं यह सन्धि अस्वीकार नहीं करना चाहता। सिन्धिया के इस उत्तर में उनके चरित्र का रहस्य छिपा है। महाराष्ट्र-संघ के छिन्न-भिन्न होने से बचाने के लिए वे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी काम करने को तैयार रहा करते थे।

इधर नजीबुद्दौला की मृत्यु के बाद उसका अयोग्य और विषयी पुत्र जाब्ता ख़ाँ दिल्ली के तख्त पर बैठा। मराठे लोग अब रुहेलों की ओर झुके। रुहेला सरदार नजीब के नियुक्त किये थे। पर जाब्ता ख़ाँ ने उनकी सहायता न की। जाब्ता के कुशासन से दिल्ली की प्रजा ऊब गई थी। उधर शाहआलम भी इलाहाबाद से छुटकारा चाहता था। उसने मराठों को दस लाख रुपया देने का वादा किया और कहा कि किसी प्रकार दिल्ली जप्त करने में उसकी सहायता करें। परन्तु नवाब शुजा-उद्दौला और अँगरेज अधिकारी शाहआलम को दिल्ली नहीं जाने देना चाहते थे। वह नहीं चाहते थे कि उसकी और मराठों की दोस्ती हो। लेकिन शाह ने इसकी परवाह न की।

कुछ सहायक लेकर वह फर्रुख़ाबाद गया। वहाँ माधवराव ने उससे भेंट की और उसे दिल्ली ले गये। १५ दिसम्बर सन् १७७१ को शाहआलम दिल्ली घुसे। अब ज़ाब्ता ख़ाँ को अपने प्राणों की आ लगी। उसने रुहेलों को उभाड़ा, परन्तु उसकी कुछ न चली। उसे अपनी जान बचाने के लिये भागना पड़ा। भागते समय वह अपना धन और परिवार तक साथ में न ले गया। उसका सारा धन मराठों के हाथ लगा और उसका बेटा ग़ुलाम क़ादिर उनकी क़ैद में आ गया।

इसी बीच शाहआलम मराठों से किसी कारण अप्रसन्न हो गया। शुजाउद्दौला ने उसे उभाड़ा कि मराठे मिलकर आपकी जड़ खोदना चाहते हैं। मराठों को देश से निकाल देने के लिए रुहेलों को ४० लाख रुपये देने का वादा किया गया। माधव-राव तो चाहते ही थे कि एक बार खुल्लमखुल्ला मुसलमानों से लड़ लें। परन्तु अन्य मराठा सरदारों को यह पसन्द न था। तुकोजी होल्कर ने शाहआलम की यह दुरंगी हालत देखकर ज़ाब्ता ख़ाँ को अपनी ओर मिलाया और जाटों से भी मैत्री की। माधवराव को यह ठीक न मालूम हुआ। वे असन्तुष्ट हो अलग हो गए।

इसके बाद बहुत सी लड़ाइयाँ हुईं। शाहआलम बहुत बुड्ढा हो गया था। वह सुख से जीवन बिताना चाहता था। उसने सोचा कि दिल्ली की झंझटों से दूर रहना अच्छा है। अतः वारेनहेस्टिंग्स के पास सन्देश भेजा कि मैं अँगरेजों की शरण में रहना चाहता हूँ। हेस्टिंग्स ने उसे ७ लाख रुपये की वार्षिक पेन्शन देने का वचन दिया। उसने सोचा कि यदि इस

मौके पर चूक गए तो फिर शाहआलम मराठों के चँगुल में फँस जायगा। उसे इस नीति में सफलता न मिलने पाई थी कि माधवराव की आगरे में शाहआलम से भेंट हुई। उसने सिन्धिया को 'वकीलुलमुल्क' की उपाधि दी और उस पर राज्य का सारा भार छोड़ दिया। अभी तक उत्तर भारत में मुग़ल शासकों की प्रतिष्ठा थी। इससे नीतिकुशल माधवराव ने शाहआलम की दी हुई उपाधि स्वीकार करके उसी के नाम पर काम करना उचित समझा।

इन दिनों शाहआलम की कमज़ोरी के कारण मुगलराज्य के सब आधीनवर्ती जागीरदार स्वतन्त्र हो गये थे। दिल्ली को वे कुछ भी कर न देते थे। इससे राज्य के खर्च के लिए बहुत कठिनाइयाँ थीं। माधवराव ने इन जागीरदारों से नियत कर देने को कहा। इस पर वे सब उसके विरुद्ध हो गये। जयपुर, जोधपुर, उदयपुर आदि के राजपूत भी शिंदे के दुश्मन हुए। जाब्ताखाँ की मृत्यु हो चुकी थी। उसका बेटा गुलामकादिर भी सिन्धिया के विरोधी दल में मिल गया। इस प्रकार माधव-राव पर संकट के बादल मँडराने लगे। परन्तु उसने हिम्मत से काम लिया। भरतपुर के जाटों को अपनी ओर मिलाया। उनकी सहायता से अलवर की ओर गए और फिर अपनी सेना का एक हिस्सा लकवा दादा की अध्यक्षता में आगरे की ओर भेजकर स्वयं ग्वालियर चले गए। इधर गुलामकादिर दिल्ली पहुँचा। पर बेगम समरू के पहुँचने से वह कुछ भय-भीत हुआ। शाहआलम अस्थिर बुद्धि तो था ही। कादिर को 'अमीरुलउमरा' की उपाधि दे बैठा। उसकी इस चञ्चलचित्तता के कारण शिंदे ने दिल्ली जाना ठीक न समझा। उसने आगरे

में शत्रुओं के फिर लकवा दादा को छुड़ाकर मथुरा पर घेरा डाल दिया ।

दिल्ली में गुलामकादिर इस्माईल बेग नामक एक वीर किन्तु स्वार्थी, सरदार को मिलाकर शाहआलम से मराठों के विरुद्ध सहायता मांगने लगा। शाह से सन्तोषप्रद उत्तर न पाकर इन लोगों ने महल पर हमला कर दिया। कादिर ने शाहआलम को गद्दी से उतार दिया। बेगमों से रुपया छीनने के लिये उन पर अनेकों अत्याचार किये। जब इस पर भी उसे शान्ति न हुई तो शाहआलम के सामने उसके बेटे और पोतों पर जुल्म करना शुरू किया। शाह से यह न देखा गया। कादिर ने उसकी आँखें निकाल लेने का हुक्म दिया। उसे अन्धा कर दिया। अब वह राजवंश की सुन्दरी स्त्रियों के सतीत्व नाश की ओर झुका। दिल्ली में हाहाकार मच गया। सारी प्रजा और स्वयं राजवंश अन्न कष्ट से व्याकुल हो उठा।

माधवराव को जब यह बातें मालुम हुईं तो उन्होंने अपनी सेना दिल्ली की ओर चलाई। नगर पहुँचते ही दिल्ली को जलता हुआ पाया गया। मराठों ने आग बुझाकर शाहआलम और राजपरिवार को जहाँ तक होसका आराम पहुँचाया। इसी दर्मियान तुकोजी होल्कर को पेशवा ने सिन्धिया की सहायता कलिङ भेजा। गुलामकादिर भागा। मराठी सेना ने उसका पीछा किया। वह पकड़ कर सिन्धिया के सामने लाया गया। सिन्धिया ने उसे उलटा मुँह करके गधे पर बिठा कर शहर में घुमाया। जब वह गालियाँ बकने लगा तब उसकी जीभ काट ली गई। सिपाहियों ने रास्ते में ही उसे फाँसी दे दी। सच है

"कलजुग नहीं करजुग है यह इस हाथ दे उस हाथ ले"। जो जैसा करता है वैसा फल पाता है। ख़ैर।

अन्धे शाहआलम को सिन्धिया ने फिर से राजगद्दी पर बैठाया। किन्तु वास्तविक अधिकार उसीके हाथ में थे। उसने शाह के खर्च के लिए ९ लाख रुपया सालाना नियत कर दिया। अस्तु माधवराव की चिरसंचित अभिलाषा पूरी हुई। वह दिल्ली में हिन्दुओं की अतीत सत्ता फिर से स्थापित कर सके।

कुछ दिनों बाद १८ नवम्बर सन् १७७२ को माधवराव पेशवा की मृत्यु हो गई। उसके भाई नारायणराव पेशवा बने। किन्तु माधवराव के चचा राघवराव (राघोवा) पहले ही खुद पेशवा बनना चाहते थे। उन्होंने कुछ लोगों को भड़का कर नारायण की हत्या करवा डाली और स्वयं पेशवा बन बैठे। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बालाजी जनार्दन भानु जो ज्यादातर नाना फड़नवीस के नाम से इतिहास में विख्यात हैं राघोवा के विरुद्ध थे। किन्तु राजनीति की चाल से उन्होंने इस समय उसका साथ दिया। साथ ही नाना ने नारायणराव की गर्भ-वती पत्नी को बाहर भेज दिया। १८ अप्रैल सन् १७७३ को उसके पुत्र होने का समाचार मिला। नाना फडनवीस तथा अन्य मंत्रियों ने इस बच्चे को द्वितीय माधवराव के नाम से घोषित कर दिया। राघोवा पूना छोड़कर भागे। उससे तुकोजी होल्कर और महादाजी सिन्धिया से भेंट हुई। उन्होंने उसकी सहायता का वचन दिया। किन्तु अहल्याबाई के कहने से तुकोजी ने राघोवा का साथ छोड़ दिया। फिर महादाजी भी अलग हो गये। राघोवा अकेला होगया। वह अङ्गरेजों के

पास सहायता के लिये बम्बई पहुँचा। उन्हें सालसीट और बसीन द्वीप देने का वचन दिया। पूना की सेना ने इसे हरा दिया। अब वह सूरत गया। वहाँ अँगरेजों को और भूमि देने का इकरारनामा लिखकर उनसे मदद माँगी। इस बार पहले से दूनी सेना भेजी गई। इसे १८ मई, १७७५ में एरस के मैदान में विजय मिली। इन दिनों कम्पनी ने कलकत्ता के गवर्नर को बम्बई और मद्रास के गवर्नरों से बड़ा बना दिया था। कलकत्ते में वारेनहेस्टिंग्स गवर्नर था। उसे बम्बई के गवर्नर की उक्त सहायता से असन्तोष हुआ। यद्यपि अँगरेजों की प्रतिष्ठा का विचार करके वह इस सहायता को लौटाना नहीं चाहता था किन्तु उसकी कौंसिल की राय उसके विरुद्ध थी। अतः उसने कर्नल अप्टन को पूना सन्धि का प्रस्ताव लेकर भेजा। १ मार्च, १७७६ को सन्धि हुई। इसके अनुसार साल्सेट द्वीप अंगरेजों के पास रहने दिया गया। किन्तु राघोवा का साथ अंगरेजों ने छोड़ना स्वीकार किया। इसी समय कम्पनी के डाइरेक्टरों की आज्ञा विलायत से आई कि राघोवा की सहायता उसकी पुरानी संधि के अनुसार की जाय। हेस्टिंग्स ने बंगाल से एक नई फौज राघोवा की सहायता के लिए भेजी। इन्हीं दिनों सुखराम बापू नामक पूना का एक मन्त्री राघोवा से मिल गया। नाना फड़नवीस को पदत्याग करना पड़ा। महादा जी ने बात सँभाल ली। वे नाना के पास पुरन्धर पहुँचे। ८ जून १७७८ को उन्होंने नाना को फिर से पुराने अधिकार लेने के लिए वाध्य किया। कलकत्ते की सेना आने न पाई थी कि बम्बई वालों ने पूना पर चढ़ाई कर दी। मराठों के नेता महादाजी थे। अँगरेजी सेना ६ जनवरी, १७७६ को पूना के

पास तलेगांव पहुँची। वहाँ "सेनापति रोगी हो गये; कौंसिल के सदस्य घबड़ा गए; सेना घिर गई; डराकर पीछे हटाई गई; अफ़सर और सिपाही अपना कर्तव्य भूल गये; सारा सामान जला दिया और बन्दूकें तालाब में फेंक दी गई।" सेना यहाँसे हटकर बड़गाँव पहुँची। वहाँ शिंदे से हार गई। सिंधिया की शर्तें मानने पर ही छुटकारा मिला। प्रसिद्ध इतिहास लेखक लायल के शब्दों में "इस (सेना) के नेताओं ने बड़ी गलती की, और वे लज्जाजनक ढंग से पीछे हटे। राघोबा को प्रवास में भागना पड़ा और मराठों को उचित टिकाऊ क्रोध मिला।" इधर तो यह हाल था उधर ग्वालियर के किले को खाली पाकर गोहर के राणा की सहायता से वारेन हेस्टिंग्स की दूसरी फौज ने कर्नल पाँपहम के नेतृत्व में उस पर अधिकार करलिया। सिंधिया उत्तर की ओर बढ़े। उन्होंने कठिन युद्ध के पश्चात अपना किला फिर ले लिया। इधर अंगरेज भी लड़ते-लड़ते परेशान हो गए थे। उन्होंने माधवराव को मध्यस्थ बना कर पेशवा से १७ मई, १७८२ को सलबाई नामक स्थान में संधि कर ली। इसके अनुसार (१) शिंदे को उसका वह सारा देश लौटा दिया गया जो अँगरेजों के हाथ में आ गया था, (२) अँगरेजों ने राघोबा का साथ छोड़ दिया। उसकी पेंशन नियत की गई और वही बसीन पेशवा को वापस कर दिया गया। इसके अलावा एक अलग संधि के द्वारा भरोच सिंधिया को मिला।

इस संधि से महादाजी का सम्मान बहुत बढ़ गया। नाना फड़नवीस के अतिरिक्त उनका दूसरा प्रतिस्पर्धी मराठों में इस समय न था। इस लड़ाई में शत्रुओं तक ने उसकी असाधारण राजनीतिक और सैनिक योग्यता स्वीकार की थी माधवराव

सैनिक चातुर्य्य का मुख्य कारण था उसका अपनी सेना का संचालन करने के लिये एक बहुत योग्य सेनापति प्राप्त करना। सेनापति का नाम था बेनाँय डि बाँयन। यह इटली देश का निवासी था। फ्रांस देश की सेना में पाँच वर्ष रहकर इसने सैनिक-प्रबंध-पटुता प्राप्त की थी। फिर रूस की सेना में रह कर तुर्कों से लड़ा। फिर मिसर होते हुए मद्रास आया। यहां अँगरेज सेना में भर्ती हुआ। कुछ दिनों के बाद वहां के गवर्नर से मनमुटाव होने के कारण यह कलकत्ता गया। वहां वारेन हेस्टिंग्स ने इसे कई देशी नरेशों के नाम परिचय-पत्र दिये। कई स्थानों पर जाने के बाद जिन दिनों माधवराव बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने के लिये सेना भेजने वाले थे डि बाँयन ने उनसे नौकरी की प्रार्थना की। माधवराव को संयोगवश बायन की योग्यता सूचक बहुत से कागजात पहले मिल चुके थे। उन्होंने इसे १००० रु० मासिक पर नौकर रख लिया। इसने सेना का उचित रीति से संगठन किया। इसकी अध्यक्षता में रहने वाली सेनाओं के द्वारा ही सिंधिया ने उपर्युक्त भिन्न-भिन्न युद्धों में विजय पाई थी।

माधवराव अपने को सदैव पेशवा का नौकर कहा करते थे। पेशवा के दरबार में उनका उचित सम्मान होता था। शाहआलम के नाम से जितने फरमान निकला करते थ उनके निर्माता वास्तव में वही थे। सच पूछा जाय तो दिल्ली के असली शासक महादा जी थे।

अब माधवराव की आयु प्रायः साठ वर्ष के समीप हुई। वे घोर परिश्रम, लगातार युद्ध और अनेकों कामों में लगे रहने के कारण सदा चिन्ता ग्रस्त रहते थे। इससे अब बुढ़ापे में न

तो उनमें शारीरिक शक्ति ही पहले की सी रह गई थी और न दिमागी ताकत ही। अस्तु उन्होंने पूना में रहना श्रेयस्कर समझा। पेशवा द्वितीय माधवराव अभी वयस्क नहीं हुआ था। उसे महादाजी जैसे अनुभवी, दक्ष, और बुद्धिमान सलाहकार की आवश्यकता थी। इसी से वह इन पर बहुत श्रद्धा रखता था। नाना फड़नवीस ने वास्तव में उसे पेशवा बनाया था। किन्तु नाना के विरोधियों ने बालक पेशवा का मन उसकी ओर से फेर दिया। एक दिन पेशवा छत पर से कूद कर मर गया। बाजीराव ने गद्दी पाई। नाना फड़नवीस और माधवराव सिन्धिया दोनों पेशवा को अपने अपने वश में रखना चाहते थे। भीतर ही भीतर दोनों एक दूसरे की शक्ति बढ़ने नहीं देना चाहते थे। किन्तु इस आन्तरिक स्पर्धा के वाह्यरूप धारण के पहले ही ज्वर से आक्रमित होकर पूना के पास बनौली नामक गाँव में १२ फरवरी सन् १७६४ को प्राण त्याग दिये। कुछ लोग कहते हैं कि सिन्धिया की मृत्यु ११ फरवरी को रात कुछ अज्ञात लोगों के आघातों से हुई थी।

माधवराव के स्वभाव और चरित्र पर अंगरेज, फ्रेंच आदि विभिन्न जातियों ने लिखा है। इन लेखकोंके उद्देश्य में एकता न होनेके कारण कभी-कभी परस्पर विरोधिनी बातें भी मिल जाती हैं। परन्तु सबको मिलाकर तुलना करके यह कहा जा सकता है कि वह एक असाधारण पुरुष थे। एक लेखक के शब्दों में "उनका चरित्र मानव सादगी से पूर्ण था, इस कारण वह राजसी सजावट और सुखोपभोग की सामग्रियों को समानरूप से हेय समझता था।" इसी सबब से इतनी लड़ाइयों में सम्मिलित रहते हुए भी वह पढ़ने लिखने के लिये अव-

काश निकाल लेते थे। वह मराठी, हिन्दी और फारसी जानते और गणित के अच्छे ज्ञाता थे। वह दृढ़ प्रतिज्ञ थे। एक बार जो निश्चय कर लेते थे उसे अनेक विघ्नबाधाओं के होते हुए भी पूरा कर डालते थे। "अपने कार्यकलाप में वह अपने अनुभव और विचार के द्वारा स्थिर किए सिद्धान्तों का प्रयोग करते थे।" इसी कारण वह इतनी उन्नति करने में समर्थ हुए थे। प्रसिद्ध इतिहासकार' कीन लिखता है कि "कम से कम एशिया में कोई दूसरा ऐसा नाम नहीं है।" प्रसिद्ध इतिहासकार कीन के शब्दों में हम सिन्धिया के विषय में यह कह सकते हैं "जिस व्यक्ति का हम उल्लेख कर रहे हैं वह एक ऐसा भारतीय शासक था जिसमें असाधारण कठिनाइयों के समय असाधारण योग्यता थी।"

हैदर अली

है दर अली का जन्म सन् १७१७ ई० में हुआ था। उसका बाप पहले एक सिपाही था। फिर अपने साहस और उत्साह से वह 'सिरा' के सूबेदार की सेना का नायक हो गया था। उस सूबेदार के लड़के ने, कुछ दिनों बाद, हैदरअली की सारी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली, और उसे अपने यहाँ से निकाल दिया। हैदर के परिवार ने बंगलोर में पनाह ली। हैदरअली और उसका भाई मैसूर के राज- दीवान के नौकर हो गये। हैदर की उम्र अधिक न थी। फिर भी वह वीर और हिम्मतवर सैनिक था, उसे डर छू तक न गया था। पुराने ज़माने में इन गुणों की काफ़ी इज्ज़त होती थी। इससे हैदर अली, थोड़े दिनों में, सेनापति हो गया। उसी बीच हैदराबाद और अरकाट की राजगद्दियों के कई हक़दार खड़े हो गये थे। उनमें झगड़ा होना स्वाभाविक था। हैदरअली की सेना भी इन झगड़ों में हिस्सा ले रही थी। अंगरेज फ्रांसीसी भी विरोधी दलों का पक्ष लेकर अपना मौक़ा साध रहे थे। मैसूरी सेना फ्रांसीसी फौज के साथ थी। हैदर अली ने अंगरेजों की कुछ तोपें इस युद्ध में छीन लीं। इस पहली जीत से उत्साहित होकर हैदर अली ने अपनी सेना बढ़ाना आरम्भ किया। इस बढ़ती हुई फौज के लिए धन की आवश्यकता अनिवार्य थी। इस काम में सहायता देने के लिये

उसने खण्डेराव नामक एक मराठा ब्राह्मण को नौकर रखा। वह हैदर अली का सलाहकार और अर्थ-मंत्री हुआ। कुछ समय बाद वह 'डिंडीगल' का सूबेदार नियुक्त हुआ। आस-पास के छोटे-मोटे राजाओं को लूटकर वह अपना ख़ज़ाना बढ़ाने लगा। डिंडीगल में अपने बारूदखाने की देखभाल करने के लिए हैदर अली ने बहुत से फ्रांसीसी नौकर रखे।

इसी बीच हैदराबाद के निज़ाम ने प्रसिद्ध फ्रांसीसी सेनापति 'बुशी' के साथ मैसूर पर हमला किया। बहुत दिन का बक़ाया ख़िराज वसूल करने के लिये उसने मन्दिरों और राजमहलों को लूटा। किसी तरह निज़ाम से छुटकारा मिला ही था कि बालाजी बाजीराव पेशवा ने भी आक्रमण कर दिया। बहुत सा कर मांगा। मैसूर के राजा ने कुछ ज़िले अमानत के तौरपर पेशवाको देदिये। हैदरअली बुलाया गया। उसकी सलाह से इन ज़िलोंका लगान पेशवाको न दिया गया। इसपर नाराज़ होकर मराठों ने यह ज़िले अपने राज्य में मिला लिए। हैदर अली प्रधान सेनापति बनाया गया। उसने मराठों से उक्त ज़िले छीन तो लिए परन्तु बदले में बहुत रुपया देना स्वीकार कर लिया। आधी रक़म उसने लोगों से ज़बरदस्ती इकट्ठी करके दी और आधी के लिए अपनी जिम्मेदारी ले ली। राजा ने उसे उन ज़िलों का लगान वसूल करने का अधिकार दिया और फ़तेह हैदर बहादुर की उपाधि दी। इससे उसका प्रभाव राज्य में और भी बढ़ गया।

इन दिनों नौजवान मैसूरपति अपने मंत्री के हाथों का खिलौना हो रहा था। रानी को बुरा लगा। उसने हैदर अली की सहायता से मंत्री का अधिकार छीन लिया। परन्तु एक

नई बला आ गई। हैदर अली स्वयं राजा को अपनी इच्छा-नुसार चलाने लगा। रानी हैदर अली के मंत्री खण्डेराव को मिलाकर हैदरअली को कैद करने का आयोजन किया। सौभाग्य से हैदर अली भागकर बंगलोर चला गया। बीस घंटे में उसने अट्ठानबे मील की दूरी तय की। उसकी जान तो बच गई, लेकिन उसकी सारी सेना और सम्पत्ति हाथसे निकल गई। हैदरअली ने चालाकी से मैसूर के पुराने मंत्री से, जो नाममात्र अधिकारी रह गया था, एक छोटी सी सेना तथा 'प्रधान सेनापति' का पद प्राप्त किया और खण्डेराव को हराकर उसे क़ैद कर लिया।

अब हैदरअली फिर मैसूर में पहले की तरह शक्तिशाली हो गया। उसके हृदय में उमंग थी। वह ऐसे विस्तृत राज्य का स्वामी होने का स्वप्न देखने लगा जिसकी पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी सीमा समुद्र हो और उत्तर में वह निज़ाम के राज्य को हड़प जाने का इरादा करने लगा। इसलिए उसने पहले मैसूर के नज़दीक के राज्यों को जीतने का निश्चय किया। उसने मराठों से 'सिरा' जीतने में हैदराबाद के नवाब को मदद दी। बदले में उसे सिरा के नवाब का ख़िताब मिल गया। इसके बाद उसने बेदनूर पर हमला किया। वहाँ के एक पुराने राज्य-कर्मचारी को प्रलोभन देकर हैदर अली ने बेदनूर जीत लिया। उसे डेढ़ लाख से अधिक लूट का माल मिला। फिर उसने मालावार पर कब्ज़ा किया। वहां के निवासियों के साथ उसने बहुत निर्दयता का व्यवहार किया।

इन लगातार विजयों से हैदर अली का हौसला बढ़ गया। सन् १७७६ में मैसूर के राजा के मरने पर उसने उसके मनो-

नीत शासक की सारी जागीर अपने आधीन करली, उसका ख़ज़ाना लूट लिया और राज का सब काम ख़ुद करना आरंभ कर दिया। यह समाचार सुनकर मराठों ने निज़ाम के साथ हैदर अली पर हमला किया। हैदर ने तमाम कुओं में ज़हर छुड़वा दिया, और सारी बस्तियां उजाड़ दीं। फिर भी हैदर अली की हार हुई और उसे धन तथा भूमि दोनों की हानि हुई। इसी दर्मियान मद्रास के अंगरेजों ने निजाम और मराठों से सन्धि की। सन्धि हुए अधिक समय न हो पाया था कि हैदरअली ने निज़ामपर हमला कर दिया। उधर मराठों ने मैसूर में लूट मचादी। अंगरेजी फ़ौज के साथ निज़ाम भी मैसूर की ओर बढ़ा। हैदर अली ने निज़ाम को अपनी ओर मिला लिया और अंगरेजों के विरुद्ध निज़ाम को अपना साथी बनाया। उसने अंगरेजों के बहुत से इलाक़ोंपर अधिकार भी कर लिया। परन्तु अंगरेज सेनापति कर्नल स्मिथ ने उसे कई स्थानों पर बुरी तरह हराया। निज़ाम उसे धोखा देता दिखलाई पड़ा और मराठों का डर तो लगा ही रहता था। दूसरे राजधानी से बहुत दिनों तक दूर रहना भी ठीक न था। इन सब बातों से हैदरअली ने सितम्बर १७६८ में अंगरेजों से सन्धि की चर्चा शुरू की। परन्तु अंगरेजों को विश्वास था कि हैदरअली कमज़ोर है और उसको जीत सकना आसान है। इससे उन्होंने सुलह करने से इन्कार कर दिया। तब हैदरअली ने युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। नवम्बर १७६८में उसने एक बड़ी सेना लेकर अंगरेजोंके विरुद्ध प्रस्थान किया। उसके बहुत से किले अंगरेजों के आधीन हो गये थे। उन सबको एक-एक करके उसने फिर से जीतना शुरू किया।

कावेरी पट्टम के क़िले पर क़ब्ज़ा करने के बाद उसने अंगरेज़ सिपाहियों को हथियार छोड़कर मद्रास चले जाने की इजाज़त दे दी। इस तथा दूसरे क़िलों में उसे बहुत-सा लूट का माल मिला। हैदरअली के अठारह वर्षीय पुत्र टीपू ने मद्रास से पाँच मील पर स्थित सेण्ट टॉमस की पहाड़ी पर कब्ज़ा कर लिया और आसपास के अंगरेजी इलाके भी अपने आधीन कर लिये। कर्नल स्मिथ ने धोखा देकर टीपू को वहाँ से लौटा दिया। परन्तु हैदरअली की सेना जीतने में लगी थी। सन् १७६८ के अन्त तक में उसने अपना सम्पूर्ण इलाका अंगरेजों से छीन लिया। इसी समय अंगरेजों की एक सेना ने दूसरी ओर से हमला करके बंगलोर पर अधिकार कर लिया। हैदरअली ने टीपू को तीन हज़ार सवार देकर मंगलोर की ओर भेजा। टीपू की जीत हुई। बहुत से अफसरों और अंगरेज तथा हिन्दुस्तानी सिपाहियों को उसने क़ैद कर लिया। इस विजय के पश्चात हैदरअली फिर आगे बढ़ा। अंगरेज सेनापति, कर्नल स्मिथ और वुड भाग खड़े हुए। करनाटक पर हैदरअली का अधिकार हो गया। यह हाल देखकर मद्रास का अंगरेज गवर्नर घबड़ा गया। उसने सन्धि का सन्देश भेजा। हैदर ने संधि का संदेश लाने वाले कप्तान ब्रुक को यह कह कर लौटा दिया कि मैं स्वयं मद्रास के द्वार पर आ रहा हूँ, वहीं गवर्नर और उसकी कौंसिल को जो कहना होगा, सुनूँगा।

हैदरअली ने लूट में मिला हुआ सामान मैसूर भेज दिया और सेना के साथ साढ़े तीन दिन में १३० मील का फासला तय करके वह मद्रास पहुँचा। अंगरेजों के होश उड़ गए। परन्तु हैदरअली ने गवर्नर से संधि की बातें करने का वचन दे

दिया था, इससे उसने मद्रास पर हमला न किया। उसकी इच्छानुसार सुलह की शर्तें लिखी गईं। हैदरअली का सारा इलाक़ा जो अंगरेजों ने जीत लिया था उसे वापस मिला। अंगरेजों ने युद्ध के ख़र्च तथा हर्जाने के तौर पर हैदरअली को बहुत सा रुपया दिया। करनाटक के नवाब ने मैसूर राज्य को सालाना छः लाख रुपया कर देना मंजूर किया। इस प्रकार हैदरअली की पूरी जीत हुई। उसकी वीरता, युद्ध-चातुरी और उदारता इस १७६७ से १७६९ तक होनेवाले युद्ध में विख्यात हो गई।

इसके बाद हैदरअली ने कुर्ग और बेलारी पर अधिकार किया। और धारवार के जीतने के पश्चात कड़ापा के नवाब की बहन से शादी की। कुछ समय पश्चात् १८७८ में, अंगरेजों और फ्रांसीसियों से युद्ध छिड़ गया। अंगरेजों ने 'माही' बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया। हैदरअली फ्रांसीसियों का हार्दिक मित्र था। और उसे माही पर अंगरेजी अधिकार होने से हानि की आशंका थी। लड़ाई का यह अच्छा मौक़ा पाकर हैदरअली ने अंगरेजों पर आक्रमण कर दिया। कर्नल बेली ने कई बार हैदर के हमलों को निष्फल कर दिया। परन्तु अन्त में उसे हार माननी पड़ी। दो हज़ार अंगरेज सिपाही बन्दी हो गए। परन्तु वारेन हेस्टिंग्स ने सर आयरकूट को हैदरअली पर हमला करने के लिये भेजा। उसने हैदर को दो बार हराया हैदरअली हिम्मत हारनेवाला आदमी नहीं था। वह इसी धुन में था कि अंगरेजों को फिर पहले की तरह हरा दूँगा। लेकिन ऐसा होना ईश्वर को मंजूर न था। उसकी कमर में एक फोड़ा हो गया। दर्द किसी तरह कम न होता देख उसे युद्ध-यात्रा

रोकनी पड़ी। रोग असाध्य होने लगा। बचने की आशा न रह गई। उसने अपने मंत्रियों को बुलाकर राज्यकार्य समझाया। अपनी बड़ी सेना के हर सिपाही को उसने एक महीने का वेतन इनाम के तौर पर दिलवाया। टीपू उस समय उसके पास मौजूद न था। उसके आने के पहले ही ६ दिसम्बर १७८५ को हैदरअली चल बसा। कहते हैं मरने के पहले वह अंगरेजों की सामुद्रिक शक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार करके टीपू के लिये यह आदेश छोड़ गया था कि अंगरेजों से मेल रखना उचित और हितकर है।

ऊपर की पंक्तियों में हैदरअली का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त अंकित किया गया है। वह एक मामूली सिपाही के घर में पैदा हुआ। अपनी वीरता और योग्यता से वह एक विस्तृत देश का स्वामी होकर मरा। अस्सी करोड़ से ज्यादा खज़ाना छोड़कर वह मरा था। उस समय वही ऐसा हिन्दुस्तानी राजा था जिसके पास जल सेना भी थी। वह पढ़ना-लिखना बिल्कुल नहीं जानता था। अपने हस्ताक्षर तक नहीं कर सकता था। फिर भी वह अत्यन्त बुद्धिमान, नीतिकुशल, शासन-पटु और युद्ध-विद्या-विशारद था। उस धार्मिक पक्षपात के ज़माने में भी वह इससे शून्य था। उसके राज्य के ऊँचे-ऊँचे पद हिन्दुओं को प्राप्त थे। वह हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रति उदार था। एक आधुनिक अंगरेज इतिहास लेखक कहता है कि हैदरअली ने अपने राज्य में गो-हत्या बन्द कर दी थी। गोवध करने वाले के हाथ काट दिये जाते थे। मैसूर राज्य के अन्तर्गत आद्य शंकराचार्य के शृंगेरी मठ के अध्यक्ष तत्कालीन शंकराचार्य के प्रति हैदरअली बहुत श्रद्धा रखता था। उसने उन्हें

एक बार 'एक हाथी, पांच घोड़े, एक पालकी, पांच सोने के ताफ़े (सोने-चांदी की पताकाएँ), एक जोड़ी शाल, और साढ़े दस हज़ार रुपये,' श्री शङ्कराचार्य को भेंट किये थे। वह हिन्दू त्योहारों पर भी उत्सव मनाया करता था। दशहरे के दिन तो लगातार कई दिन तक बड़ा समारोह रहा करता था। उसे धर्म के नाम पर किये जाने वाले मूर्खता पूर्ण झगड़ों से घृणा थी। कहा जाता है कि उसने एक बार शिया और सुन्नी लोगों को आपस में झगड़ने के कारण बहुत फटकारा था। एक फ्रांसीसी लेखक हैदरअली की न्याय-प्रियता की प्रशंसा करता है। उसने स्वयं सबकी फ़रियाद सुनने की व्यवस्था कर दी थी। एक बार उसने एक बुढ़िया की लड़की ज़बरदस्ती भगा ले जाने के दोष में अपने पच्चीस साल के मुख्य जमादार आग़ा मोहम्मद का सर कटवा डाला था। वह स्वयं वेश बदल कर अपनी प्रजा के दुःख-सुख के हाल जाना करता था। वह अपनी प्रजा पर जहां तक हो सकता था किसी तरह का अनुचित अत्याचार नहीं होने देता था।

हैदरअली की बुद्धि तथा स्मरण शक्ति विचित्र थी। वह नैपोलियन की तरह एक साथ कई काम कर सकता था। तमाशा देखना, लोगों से सवाल पूछना, दूसरों को जवाब देना, गंभीर विषयों पर मंत्रियों को सलाह देना, चिट्ठी लिखवाना आदि कई बातें वह एक साथ किया करता था। रोज प्रातःकाल जब वह हाथ-मुँह धोया करता था, तब उसके अगणित जासूस एक साथ पिछले चौबीस घण्टों का अपना कारनामा सुनाया करते थे। उन सब की बातें सुन सकने और हरेक को उचित आज्ञा देने में उसे आनाकानी नहीं हुआ करती थी।

हैदर स्वयं वीर था। इसीसे वह वीरों का सम्मान भी करना जानता था। अपने हारे हुये शत्रुओं के प्रति वह उदार रहता था। साधारण से साधारण सिपाही के साथ भी वह भलमंसाहत का व्यवहार किया करता था। उसकी रहन-सहन सादी थी। वह साधारण सिपाही का-सा रूखा-सूखा भोजन युद्ध के मैदान में किया करता था। उसे शेर के शिकार का बड़ा शौक था। उसका निशाना अचूक होता था। उसे घोड़ों, हाथियों, तोपों और रसायन में भी विशेष रुचि थी। वह अच्छे घोड़ों का मुँह मांगा दाम दिया करता था।

इसके अलावा हैदरअली को कष्ट का अनुभव प्रायः नहीं हुआ करता था। कई रात-दिन वह लगातार घोड़े की पीठ पर ही बिताकर थकता न था।

हैदरअली के कामों में उजड्डुता के साथ-साथ उसके चरित्र की महत्ता का आभास अवश्य मिलता है। चालाकी और दूर-न्देशी उसके चरित्र के विशेष गुण थे। वह मैसूर में ऐसे नाम-मात्र के, शक्तिहीन राजा रखता था जो हर वक्त उसकी मुट्ठी में रहते थे, और जिन्हें वह अपनी इच्छानुसार नचाया करता था। जब उसकी मरज़ी होती इन्हें उतार देता और किसी दूसरे खिलौने को राज सिंहासन पर बैठा दिया करता। वह किस प्रकार ऐसी कठ पुतलियां चुना करता था—यह जानने के लिये इस विषय का एक किस्सा लिखा जाता है। एक बार उसे राज्य के लिये एक नामधारी राजा की जरूरत हुई। उसने राजघराने के तमाम बच्चे इकट्ठा किये। उनके सामने भिन्न-भिन्न प्रकार के खिलौने और बहुत से गहने डाल दिये। और स्वयं देखता रहा कि वे क्या करते हैं। एक बच्चे ने चमकदार

हीरों से जड़ी हुई कटार एक हाथ में और दूसरे में एक नींबू पकड़ा। हैदर बोल उठा, 'अहा, यही असली राजा है', और उसे तुरन्त गद्दीपर बैठा दिया। लिखना-पढ़ना न जानते हुए भी हैदरअली बड़ा चालाक था। लिखना-पढ़ना तो उस समय बहुत कम राजा जानते थे। उसके मालगुजारी वसूल करने के तरीके बहुत सरल थे। उसने एक अर्थ-मंत्री नियुक्त कर दिया था और उसे हुक्म दे दिया था कि 'रुपया लाओ। परवा नहीं किस प्रकार। मुझे तो रुपए चाहिये।' वह अपनी फौज को साल में सिर्फ़ दस महीने की तनख्वाह दिया करता था और घुड़सवारों को महीने में केवल बीस दिन वेतन मिला करता था। बाकी तनख्वाह वे लोग लूट-मार से पूरी कर लिया करें ऐसी आशा की जाती थी। लेकिन लूट के माल पर भी हैदर-अली की निगाह चौकस रहती थी। ऐसा नहीं हो सकता था कि सारी लूट सिपाही ले जाते। उसमें से हैदरअली का हिस्सा निकाल लेने के बाद जो धन बच रहता था—उसमें लुटेरे सिपाहियों का हिस्सा-बाँट होता था। इन लूट-खसोट के कामों को उस समय की जनता कदाचित् कोई असाधारण काम नहीं समझती रही होगी—क्योंकि उस ज़माने में तो जहां देखो वहीं लुटेरों का छोटा-मोटा झुण्ड हाथ साफ़ किया करता था। अपने नौकरों, सिपाहियों और फ़ौजी-अफ़सरों को हर वक्त मुस्तैद रखने के लिए हैदरअली हमेशा सख़्ती से पेश आया करता था। कहते हैं उसका कोड़ा हर समय तैयार रहा करता था। राज्य का सर्वोच्च कर्मचारी तक उस कोड़े की मार से बचने की आशा नहीं कर सकता था। स्वयं अपने बेटे टीपू को उसने जवान होने के पहले कई मर्तबे कोड़े लगाए थे। एक

बार तो सब के सामने उसे बुरी तरह से पीटा था। इतना कड़ा होने पर भी हैदरअली के पास बहुत से स्वामि-भक्त नौकर थे। क्योंकि सख़्ती से पेश आने के साथ ही वह अच्छे कामों के बदले खूब इनाम देने में भी हाथ नहीं सिकोड़ता था।

हैदरअली मंझोले कद का था। .खूबसूरत नहीं था। वह हमेशा लाल रंग का लम्बा और ऊँचा साफ़ा बांधा करता था। सफेद साटन का कपड़ा पहनता, और सफेद रेशम का दुपट्टा कमर में कसे रहता था। पीला मखमली जूता पहनता था। इस सादगी के होते हुये भी राजकीय उत्सवों में उसके दरबार में मुग़लों की सी शान-शौकत दिखाई पड़ा करती थी। उसके विषय में एक जीवनी लेखक का कहना है कि 'बहुत बातों में और खास कर अपने कामों की अत्यन्त ईमान्दारी और अंगरेजों के प्रति अपनी स्पष्ट नीति में वह अपने युग के आगे था। अंगरेजों को जिन प्रतिद्वन्द्वियों का मुक़ाबला करना पड़ा था उनमें वह सब से शक्तिशाली था, और उसमें इतनी समझ थी कि वह अंगरेजों को अपना परम बलिष्ठ विरोधी जान गया था। उसकी जल-सेना रखने की उत्कण्ठा बतलाती है कि वह जानता था कि अंगरेजों की शक्ति का रहस्य सामुद्रिक-शक्ति में था और समुद्र पर अधिकार ही भूमि के राज्य की कुंजी थी। यद्यपि वह अपनी उमंग के एक अंश में असफल रहा—अर्थात् वह दक्षिण में एक महान् साम्राज्य स्थापित न कर सका—जिसका मुख्य कारण उस महान् अंगरेज जाति का राजनीति में श्रेष्ठतर होना था किन्तु हैदरअली की उमंग का मुख्यांश सफल हुआ था—अर्थात् वह मैसूर का प्रधान शासक बन गया था और अपने पीछे जनता की स्मृति में अपना महान् नाम

छोड़ गया है जो अपनी शक्तियों और मैसूर का सम्राट् होने की सफलता के कारण सदैव आदर और श्रद्धा स लिया जाता है।'

प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर विसेण्ट स्मिथ के अनुसार हैदरअली पाँच भाषाएँ आसानी से बोल सकता था। अपने सब काम नियमित और अविलम्ब किया करता था। अकबर की भांति उसने अपनी शिक्षा की कमी असाधारण मेधा शक्ति से दूर कर ली थी। कठिन गणित के प्रश्न वह चतुर हिसाबियों से भी जल्दी और ठीक हल कर दिया करता था। उसमें दूसरों के गुणों की प्रशंसा करने की विशेषता थी। उसके निजी गुणों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उसकी सफलता उचित और अवश्यम्भावी थी। जिस अदम्य उत्साही वीर ने अपने बाहुबल से एक विशाल साम्राज्य अपने आधीन किया था, जिसने अनेकों शक्तिशाली शत्रुओं के दांत खट्टे कर दिये थे, साथ ही जो निरक्षर भट्टाचार्य होते हुए भी उचित रीति से राज्य करना जानता था और जिसमें मज़हबी कट्टर-पन का अनुन्नत युग में भी प्रायः अभाव-सा था—वह निस्सन्देह महापुरुष कहलाने का अधिकारी है।

पंजाबकेशरी रणजीतसिंह

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारतवर्ष में जिस वीरश्रेष्ठ की समता करने वाला दूसरा न था, वह रणजीतसिंह किसी राजवंश में पैदा नहीं हुआ था—यह सुनकर लोगों को कदाचित् आश्चर्य होगा। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इतिहास में अमरकीर्ति छोड़ जाने वाले लोग राजा-रईस, धनी-मानी अथवा बड़े-बड़े भूस्वामी ही हों। प्रत्येक देश में ऐसे अनेक महापुरुष हो गए हैं, और होंगे जो बहुत ही साधारण स्थिति से उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचे थे, पहुँच रहे हैं और भविष्य में पहुँचेंगे। पंजाब केशरी रणजीतसिंह भी ऐसे ही जीव थे जिनसे राष्ट्र और जातियाँ बना करती हैं। इस पुरुष सिंह के पूर्व पुरुषों के विषय में बहुत कम बातें विदित हैं। इन लोगों ने डाके डाल-डालकर इतना आतंक जमा रखा था कि इनका नाम सुनते ही लोग कांप उठा करते थे। रणजीतसिंह के पिता महानसिंह भी प्रसिद्ध लुटेरे थे। इनके बापने अपनी लूटमार के जोरसे कोई तीन लाख आमदनी का इलाका अपने आधीन कर लिया था। महानसिंह का विवाह झींद के राजा गजपतिसिंह की कन्या राजकुंवरि से हुआ। इसी के गर्भ से सन् १७८० में रणजीतसिंह का जन्म हुआ। महानसिंह का समस्त जीवन लड़ाई करते बीता।

अपने पराक्रम से उन्होंने पंजाब में सबसे बड़ा इलाका कायम किया। उनका लोहा सब मानते थे। २७ वर्ष की थोड़ी उम्र में ही वे रोग ग्रस्त होकर काल के गाल में समा गए। इस समय रणजीतसिंह की आयु केवल १२ वर्ष की थी। लड़कपन में रणजीतसिंह को पढ़ना-लिखना जरा भी नहीं सिखाया गया। उन दिनों इन बातों की रुचि भी नहीं के बराबर थी। अलबत्ता युद्धक्षेत्र में अपने पिता के जीवन काल में ही वे दो-एक बार गए थे। एक मर्तबा तो जब वे सिर्फ १० वर्ष के थे शत्रु के वार से बाल-बाल बचे थे। फिर पिता की अकालमृत्यु से छोटी उम्र में ही उनपर राज्य का सारा भार आ पड़ा। राज्यकार्य रणजीतसिंह की मां और महासिंह के मंत्री लखपतसिंह ने संभाला। इन दोनों से अधिक प्रभाव उनकी सास सदाकुँवरि का था यह बहुत शक्तिशालिनी स्त्री थी।

सोलह वर्ष की उम्र में रणजीत ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। अपनी मां को कैद करके एक किले में बन्द कर दिया। कुछ लोग कहते हैं कि वह वहीं मर गई। और कुछ कहते हैं कि वह कहीं भाग गई। फिर कुछ पता न लगा। यह मत ठीक है। किन्तु सास के प्रभाव से छुटकारा पाना आसान न था। इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध में रुचि पैदा करा कर उसने रणजीतसिंह का बहुत हित किया था। किन्तु कुछ बातों में उसका प्रभाव बुराई की ओर ले जाने वाला था। सदाकुंवरि की इच्छा थी कि राज्याधिकार सदा उसी के हाथ में रहा करे। इसलिए उसने रणजीतसिंह के चरित्र और स्वास्थ्य को कमज़ोर करने का विचार किया जिससे वह

शासन करने के अयोग्य हो। किन्तु रणजीतसिंह बहुत दृढ़ चरित्र के थे। उन पर सास के यह अस्त्र न चल सके। अन्त में उसे भी क़ैद कर लिया। उसी दशा में वह आख़िरकार मर गई।

इसी बीच सन् १७९७ में अफ़गानिस्तान के बादशाह शाहज़मां अथवा ज़मांशाह ने अपने पितामह अहमदशाह अब्दाली के जीते हुए पंजाब को अपने राज्य में मिलाने का निश्चय किया। दक्षिण भारत के टीपू सुल्तान ने उसे निमंत्रित भी किया कि अङ्गरेजों को भारत से निकाल भगाने में उसकी मदद करे। ज़मांशाह के हमले से तमाम उत्तरी हिन्दुस्थान में तहलका मच गया। उसका सामना करने की शक्ति किसी में न थी। उसने आसानी से लाहौर पर अधिकार कर लिया। किन्तु वहां पर अपना शासन स्थायी करने के पहले ही उसे १७९८ में ईरानियों से काबुल की रक्षा के लिए स्वदेश लौटना पड़ा। वापस जाते समय झेलम में उसकी कुछ तोपें गिर गईं। उसने रणजीतसिंह से कहा कि यदि यह तोपें निकलवा कर उसके पास भिजवा दे तो बदले में लाहौर शहर और ज़िला के साथ ही उसे राजा की पदवी दी जायगी। रणजीत-सिंह ने तोपें निकलवा कर शाह के पास भेज दीं। उसने भी अपना वादा पूरा किया। राजा रणजीतसिंह १७९९ में लाहौर का स्वामी बन बैठा। कुछ सिख सरदारों को रणजीतसिंह की इस उन्नति से द्वेष उत्पन्न हुआ। उन्होंने ऊपरी मेल दिखाकर उसके मार डालने का षड्यंत्र किया। किन्तु रणजीतसिंह चौकन्ना रहा करते थे। विरोधियों की इच्छा पूरी न हो सकी।

लाहौर का राजा बनने के तीन साल बाद १८०२ ई० में रणजीतसिंह ने अमृतसर के सिक्ख सरदारों से कहला भेजा कि उसके दादा की 'ज़मजमा' तोप जो उनके यहां है भिजवा दें। सरदारों ने ऐसा करने से इन्कार किया। रणजीत ने उन पर चढ़ाई कर दी। अमृतसर सर कर लिया। इस तरह थोड़े दिनों में ही वह सिक्खों की राजनीतिक और धार्मिक दोनों राजधानियों का स्वामी हो गया।

इन दिनों अंगरेजों का राज्य दिल्ली तक पहुँच चुका था। सतलज करने पर दक्षिण का देश उस समय एक प्रकार से किसी बली शासक के आधीन न था। रणजीतसिंह ने उसे अपने अधिकार में करने का विचार किया। दैवात् इसी बीच पटि-याला और झींद की रियासतों में झगड़ा हो गया। झींद में रणजीतसिंह के चचा भागसिंह राज्य करता था। उसने इस झगड़े का निबटारा करने के लिए १८०६ ई० में रणजीतसिंह को बुला भेजा। एक बड़ी सेना लेकर उसने सतलज पार किया और लुधियाना पर कब्ज़ा कर लिया। पटियाला का झगड़ा तय करके लौटते समय रणजीतसिंह ने फ़ीरोज़पुर की कई रियासतों पर भी अधिकार कर लिया।

सतलज-पार करने पर सिक्ख सरदारों को अब मालूम हो गया कि इन आपसी झगड़ों का फैसला करने के लिए रणजीतसिंह जैसे शक्तिशाली व्यक्ति को बुलाना ठीक न था। क्योंकि वह स्वयं उनकी जागीरों को अपने राज्य में मिला लेने की कोशिश करने लगा था। इसलिए उन्होंने अंगरेज गवर्नर जेनरल से रक्षा करने की प्रार्थना की। पहले तो वह सहायता करने से हिचकिचाया, पर सोच-विचार करके ऐसा करने पर राजी हो

गया। वह रणजीतसिंह से युद्ध करना नहीं चाहता था। क्योंकि उसे भय था कि कहीं रणजीतसिंह फ्रांस वालों से मैत्री करके नैपोलियन को उसकी एशिया में बृहत् साम्राज्य स्थापित करने की योजना में सहायक न हो जाय। जब १८०८ में नैपोलियन के विचारों पर पानी फिर गया और यह अंगरेजों ने देख लिया तब लार्डमिण्टो ने १८०६ ई० में चार्ल्स मेटकाफ़ को अपना राजदूत बनाकर रणजीतसिंह से सन्धि करने के लिए भेजा। महाराजा ने इस सन्धि के फल स्वरूप सतलज के दक्षिण स्थित अपने राज्य से सम्बन्ध तोड़ दिया। सतलज के उत्तरी प्रदेश में अंगरेज दखल न देंगे—यह भी सन्धि की एक शर्त थी। इसी कारण रणजीतसिंह ने दक्षिण की ओर अपना राज्य-फैलाने का विचार छोड़कर उत्तर और पश्चिम की दिशाओं में राज्य-विस्तार बढ़ाने का निश्चय किया।

सब से पहले रणजीतसिंह ने मुल्तान पर आक्रमण किया। इस पर उनकी नज़र बहुत दिनों से थी। वहां के नवाब मुज-फ़्फ़र ख़ां ने हार कर महाराजा की शरण ली। दयावश रण-जीतसिंह ने अपनी सेना वापस कर दी। दूसरी बार १८१० में फिर हमला किया और १ लाख ८० हजार की भेंट से सन्तुष्ट हो गये। तीसरी बार मुल्तान के नवाब ने रणजीतसिं के शत्रु झंग के सुल्तान अहमद ख़ां को शरण दी। सेनापति हरिसिंह नलवा ने बड़ी वीरता से युद्ध करके क़िले पर अधिकार कर लिया। परन्तु अन्त में दीवान भवानीसिंह के लोभवश विश्वास घात करने के कारण सिक्ख सेना लाहौर लौटानी पड़ी इस धूर्तता का पता लगने पर फिर धावा किया और मुल्तान पर कब्ज़ा कर लिया।

इस विजय के एक साल के भीतर ही रणजीतसिंह को समाचार मिला कि काश्मीर की प्रजा अपने शासक जब्बारखाँ के अत्याचारों से अत्यन्त दुःखी है। उनकी पहले से इच्छा भी थी कि काश्मीर को अपने राज्य में मिलाना चाहिये। यह अच्छा मौक़ा देख फरवरी १८१९ ई० में उन्होंने काश्मीर पर चढ़ाई करने के लिए सेना भेज दी। कई घमसान लड़ाइयां हुईं। अन्त में सिक्खों की जीत हुई। काश्मीर में रणजीतसिंह का झण्डा फहराने लगा।

इस प्रकार १८२० ई० तक में रणजीतसिंह का राज्य सतलज से लेकर सिन्ध तक सारे पंजाब में हो गया। सन् १८३३ में पेशावर नगर और सूबा का निर्वासित अफ़ग़ान शाह, शाह-शुजा रणजीतसिंह को मिला। सन् १८३५ में दोस्तमुहम्मद ने पेशावर छीन लेने का प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल न हुआ।

ऊपर चार्ल्स मेटकाफ़ के द्वारा रणजीतसिंह और अंगरेजों से मैत्री होने का हाल लिखा जा चुका है। यह मित्रता रणजीतसिंह ने जीवन पर्यन्त निभाई। यह हमेशा बढ़ती ही गई। सन् १८२८ में महाराजा ने लार्ड एमहर्स्ट के द्वारा इंगलैण्ड के सम्राट् के लिए एक बहुमूल्य काश्मीरी शाल भेंट की। वहां से इसके बदले घोड़ों की जोड़ी, चार घोड़ियां आदि उनको उपहार स्वरूप दीं। लार्ड विलियम बैंटिङ्क ने स्वयं रणजीतसिंह से भेंट की थी।

रणजीतसिंह ने प्रायः हर युद्ध में विजय प्राप्त की—यह उपर्युक्त वर्णनों से कुछ-कुछ ज्ञात हो जाता है। इसका मुख्य

कारण यह था कि उसकी फौज बहुत संगठित थी। उसे क़वायद अंगरेज़ी ढंग से सिखलाई गई थी; अपनी पैदल सेना को तैयार करने के लिये रणजीतसिंह ने बहुत से विदेशी अफ़सर भी नौकर रखे थे। इनमें सब से प्रसिद्ध जनरल एवोटेबाइल नामक एक इटली देश-निवासी था। वह सैनिक होते हुए भी राज्य-प्रबन्ध में बहुत दक्ष था।

इस पंजाबकेशरी की सफलता का विशेष कारण यह था कि उसके दरबार में योग्य, चतुर और अनुभवी अफसरों की काफी संख्या थी। इनकी सलाह से वह सब काम किया करता था। राज्य की व्यवस्था करने के लिए हिन्दू और मुसलमान अधिकारी नियुक्त किये थे। फ़कीर अज़ीजुद्दीन उसका सब से प्रसिद्ध मंत्री था। यह बहुत उदार-हृदय और धार्मिक कट्टरता से रहित था। कहते हैं इसी के कारण रणजीतसिंह इतने अधिक समय तक अंगरेज़ों से शांतिपूर्वक मैत्री बनाए रख सका था। रणजीतसिंह अपने नौकरों की ईमानदारी का उचित पुरस्कार दिया करते थे। उनके विश्वास-पात्र सेवक मालामाल थे।

जिन व्यक्तिगत गुणों के कारण यह अपढ़ सिक्खवीर इतना प्रभावशाली था उनमें से उनका 'उठते हुए ज्वर की भांति मन्द, निश्चित एवं दृढ़ अध्यवसाय' मुख्य था। जिस काम के करने का उसने निश्चय कर लिया, जो वस्तु उन्होंने लेनी चाही जब तक उसे न कर लिया अथवा न ले लिया तब तक उन्हें चैन न मिलता था। इस दृढ़ मनोवृत्ति का ज्ञान हमें उनके चरित्र में कई स्थानों पर मिलता है। शाहशुजा जब अफ़गानिस्तान की गद्दी से उतार दिया गया तब रणजीतसिंह ने उसे

लाहौर में शरण दी। शुजा के पास लोक प्रसिद्ध 'कोहनूर' हीरा था। रणजीतसिंह ने उससे कोहनूर देने को कहा। इन्कार करने पर उसको पहरे में कर दिया। खाना-पीना बन्द कर दिया। लाचार हो शुजा ने अमूल्य हीरा देना स्वीकार कर लिया। उसे रणजीतसिंह की सहायता की ज़रूरत थी। उसको अपने पास बुलाया। घण्टे भर दोनों एक दूसरे से कुछ न बोले। फिर रणजीतसिंह ने हीरा देने के लिए बुलाये जाने की बात कही। शुजा ने विवश होकर कोहनूर दे दिया। रणजीतसिंह हीरा पा जाने के बाद शिष्टाचार करने तक को वहां न रुका। इसी प्रकार पेशावर के शासक से 'लैली' नामक विख्यात घोड़ी के लिये रणजीतसिंह को युद्ध में ६० लाख रुपए और १२ हजार सिपाही भेंट करने पड़े थे। इतना दाम देकर शायद हो किसी ने एक घोड़ी पाई हो। पर यह है उस वीर में दृढ़ निश्चय को प्रकट करने वाली घटना।

इस पुरुषसिंह के एक आंख थी। दूसरी चेचक से फूट गई थी। मुँह पर चेचक के दाग़ थे। इसका रंग भूरा और क़द छोटा था। लम्बी दाढ़ी से चेहरे पर एक अजीब ऐब था। सुन्दरता-विहीन होने पर भी इस व्यक्ति में इतनी अधिक प्रतिभा थी कि इसके साथ सदैव रहने वाले मंत्री अज़ीज़ुद्दीन को लार्ड विलियम बेंटिङ्क से मिलते समय एक अंगरेज अफ़-सर से 'महाराजा किस आंख के काने हैं' पूछने पर उत्तर देना पड़ा था कि 'उनके मुख पर इतनी दीप्ति है कि मैं उस पर दृष्टि डालकर इस बात का पता लगा नहींसकता।' रणजीतसिंह को शिकार करने का बड़ा शौक था। घोड़े की सवारी से बहुत प्रेम था। अस्तबल में अरबी, तुर्की और देशी घोड़ों की अच्छी

अच्छी नस्लें रहा करती थीं। तलवार और भाला चलाने में इनकी बराबरी का दूसरा न था। सादे कपड़े सदा पहना करते थे। राजसी वस्त्र आभूषण आदि केवल राज्योत्सवों पर ही पहना करते थे।

इन सद्‌गुणों के होते हुये भी रणजीतसिंह को मद्यपान का भारी दुर्व्यसन था। इसी ने इनका स्वास्थ्य चौपट कर डाला। सन् १८३४ में इनकी तन्दुरुस्ती बिगड़ने लगी। लकवे के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। १८३८ में यह लार्ड आकलैण्ड से मिले। इसी साल फिर से लकवा मार गया। बहुत सी दवाइयां हुई। इस रोग के पहले आक्रमण में अंगरेज डाक्टरों की दवा कराई थी, लेकिन इस बार अजीजुद्दीन के अतिरिक्त कोई उनसे नहीं मिलने पाता था। जून सन् १८३९ ई० जब मृत्यु का दिन आ पहुँचा रणजीतसिंह ने प्रायः २५ लाख रुपया ग़रीबों और गुरु नानक के जन्म और मरण-स्थलों के साधुओं में बँटवाया। इसके पश्चात् वह ज़मीन पर लिटाये गये। इतने में शरीरान्त हो गया।

दो एक मानव दुर्बलताओं के होते हुए भी रणजीतसिंह अपने साहस, अध्यवसाय, दूरदर्शिता, वीरता और दृढ़ निश्चय के कारण मनुष्य समाज में सदैव आदर की दृष्टि से देखे जायँगे। कहना न होगा वह पैदायशी हुकूमत करने वाले थे। उनकी महत्ता इससे और भी प्रकट होती है कि अफ़रीदियों, पठानों, सिखों, गुरखों, जाटों, हिन्दुओं आदि से बसे हुए विस्तृत देश पर उन्होंने शांतिपूर्वक प्रायः सैंतालिस वर्ष राज्य किया था। इसमें सन्देह नहीं कि रणजीतसिंह संसार के महान् विजेताओं और शासकों में विशेष उल्लेखनीय हैं।

—:o:—
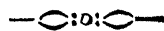
छात्रहितकारी पुस्तकमाला की बहुमूल्य पुस्तकें।

१—ईश्वरीय बोध—परमहंस स्वामी रामकृष्णजी के उपदेश भारत में ही नहीं, तमाम संसार में प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के उपदेशों का यह संग्रह है। श्रीरामकृष्णजी ने ऐसे मनोरञ्जक और सरल, सबकी समझ में आने लायक बातों में प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान करया है कि कुछ कहते नहीं बनता। व्यहारिक बातों द्वारा भगवान का बोध करा देना स्वामी रामकृष्ण जी का ही कार्य था। सचमुच मनुष्य ऐसी पुस्तक पढ़ कर अपने को बहुत उच्च बना लेता है। परिवर्द्धित संस्करण का मूल्य सिर्फ़ ॥।)

२—सफलता की कुञ्जी—अमेरिका, जापान आदि देशों में वेदान्त का डंका पीटनेवाले तथा भारतमाता का मुख उज्ज्वल करने वाले स्वामी रामतीर्थ के Secret of success नामक अपूर्व लेख का अनुवाद है पुस्तक क्या है जीवन से निराश और विमुख पुरुषों के लिये संजीवनी और नवयुवकों के लिये संसार में प्रवेश करने की वास्तविक कुञ्जी है। मूल्य ।)

३—मनुष्य जीवन की उपयोगिता—मनुष्य जीवन किस प्रकार सुखमय बनाया जा सकता है? इसकी उत्तम से उत्तम रीति आप जानना चाहते हैं तो इसे पढ़ जाइये। कितने

सरल उपायों से पूर्ण सुखमय जीवन हो जाता है, यह आपको इसी पुस्तक से मालूम होगा। यह मूल पुस्तक तिब्बत के प्राचीन पुस्तकालय में थी, जहां के एक चीनी ने इसका अनुवाद चीनी भाषा में किया फिर इसका योरप की अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद हुए। आज दिन योरप की प्रत्येक भाषा में इसके हज़ारों संस्करण हो चुके हैं। हिन्दी अनुवाद का चौथा संस्करण अभी हाल ही में छपा है। सवा सौ पेज की पुस्तक का मूल्य ॥=)

४—भारत के दशरत्न—यह जीवनियों का संग्रह है। इसमें भीष्मपितामह, श्रीकृष्ण, पृथ्वीराज, महाराणा प्रताप-सिंह, समर्थ रामदास, श्रीशिवाजी, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के जीवनचरित्र बड़ो खूबी के साथ लिखे गये हैं। मूल्य ।=)

५—ब्रह्मचर्य ही जीवन है—इसको पढ़ कर सच्चरित्र पुरुष तो सदैव के लिये वीर्य नाश से बचता ही है किन्तु पापात्मा भी निःसंशय पुण्यात्मा बन जाता है। व्यभिचारी भी ब्रह्मचारी बन जाता है। दुर्बल भी सिंह तथा दुरात्मा भी साधु हो जाता है। जो पुरुष अपने को औषधियों का दास बनाकर भी जीवन लाभ नहीं कर सका है, उसे इस पुस्तक में बताये सरल नियमों का पालन कर अनन्त जीवन प्राप्त करना चाहिये। कोई भी ऐसा गृहस्थ या भारतपुत्र न होना चाहिये जिसके पास ऐसी उपयोगी पुस्तक की एक प्रति न हो। थोड़े ही समय में इसके चार संस्करण हो चुके हैं। मूल्य ॥)

६—वीर राजपूत—यह उपन्यास एक ऐतिहासिक घटना को लेकर बड़े मनोरंजक ढंग से लिखा गया है यदि राजपूताने

के वीर राजपूतों के सच्चे पराक्रम और शूरवीरता की एक अपूर्व झलक आपको देखनी है, यदि आप यह जानना चाहते हैं कि एक सच्चा सदाचारी वीर पुरुष कैसे अपने उच्च जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है तो उपन्यास को एक बार अवश्य पढ़ जाइये। मूल्य १)

७—हम सौ वर्ष कैसे जीवें—भारतवर्ष में औषधालयों और औषधियों की कमी नहीं, फिर भी यहां के मनुष्यों की आयु अन्य देशों की अपेक्षा सब से कम क्यों है? औषधियों का विशेष प्रचार न होते हुये भी हमारे पूर्वजों की आयु सैकड़ों वर्ष की कैसे होती थी? एक मात्र कारण यही है कि हमारे नित्य के खाने पीने, उठने बैठने के व्यहारों में बर्तने योग्य कुछ ऐसे नियम है जिन्हें हम भूल गये हैं "हम सौ वर्ष कैसे जीवें?" को पढ़ कर उसके अनुसार चलने से मनुष्य सुखों का भोग करता हुआ १०० वर्ष तक जीवित रह सकता है। हिन्दी में इस विषय की आजतक कोई भी ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। परिवर्द्धित संस्करण का मूल्य १)

८—महात्मा टाल्स्टाय की वैज्ञानिक कहानियाँ—विज्ञान की शिक्षा देनेवाली तथा अत्यन्त मनोरंजक पुस्तक। मूल्य ।)

९—वीरों की सच्ची कहानियाँ—यदि आपको अपने प्राचीन भारत के गौरव का ध्यान है, यदि आप वीर और बहादुर बनना चाहते हैं, तो इसे पढ़िये। इसमें अपने पुरुषाओं की सच्ची वीरता पूर्ण यश गथायें पढ़ कर आपका हृदय फड़क उठेगा, नसों में वीररस प्रवाहित होने लगेगा, पुरुषाओं

के गौरव का रक्त उबलने लगेगा। स्कूल में बालकों को इतिहास पढ़ाने में अपने पुरुषाओं की वीरता पूर्ण घटनाएँ नहीं पढ़ाई जातीं। विदेशी पुरुषों की प्रशंसा के ही पाठ पढ़ाये जाते हैं। आवश्यकता है देश का कोई बालक ऐसे समय इस पुस्तक को पढ़ने से न चूके। मूल्य केवल ।।।)

१०—आहुतियाँ—यह बिलकुल नये प्रकार की नयी पुस्तक है। देश और धर्म पर बलिदान होने वाले वीर किस प्रकार हँसते हँसते मृत्यु का आवाहन करते हैं ? उनकी आत्मायें क्यों इतनी प्रबल हो जाती हैं ? वे मर कर भी कैसे जीवन का पाठ पढ़ाते है ? इत्यादि दिल फड़काने वाली कहानियाँ पढ़ती हों तो "आहुतियाँ" आज ही मँगा लीजिये। मूल्य केवल ।।।)

११—जगमगाते हीरे—प्रत्येक आर्य संतान के पढ़ने लायक यह एक ही नयी पुस्तक है यदि रहस्यमयी, मनोरंजक, दिल में गुद गुदी पैदा करने वाली महापुरुषों की जीवन घटनाएं पढ़नी हैं। यदि छोटी छोटी बातों से ही महापुरुष बनने की ज़रा भी अभिलाषा दिल में है तो एक बार अवश्य इस सचित्र पुस्तक को आप खुद पढ़िये और अपनी स्त्री बच्चों को पढ़ाइये। मूल्य केवल १)

१२—पढ़ो और हँसो—विषय जानने के लिये पुस्तक का नाम ही काफ़ी है। एक एक लाइन पढ़िये और लोट पोट होते जाइये। आप पुस्तक अलग अकेले में पढ़ेंगे; पर दूसरे लोग समझेंगे कि आज किससे यह क़हक़हा हो रहा है। पुस्तक की तारीफ़ यह है कि पूरी मनोरंजक होते हुए भी अश्लीलता

का कहीं नाम नहीं। यदि शिक्षाप्रद मनोरंजक पुस्तक पढ़नी है तो इसे पढ़िये। मूल्य केवल ॥)

१३—कुसुम-कुञ्ज—कविवर गुरु भक्त सिंह 'भक्त' कृत कमनीय कविताओं का संग्रह है। ये कवितायें अपने ढंग की एक ही हैं। मूल्य ।=)

१४—चारुचिन्तामणि कोष—इस पुस्तक में श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के सब ग्रन्थों से उन भागों का संग्रह किया गया है जिनका सम्बन्ध श्री रामनाम से है। संग्रहकर्ता राम के अनन्य भक्त श्री जयरामदास जी हैं। पुस्तक अपने ढंग की एकही है। मूल्य ।-)

१५—मनुष्य शरीर की श्रेष्ठता—शरीर विज्ञान पर अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। इस पुस्तक में शरीर के अंग और उनके कार्य सरल भाषा में बतलाये गये हैं। थोड़ी सी असावधानी तथा जानकारी के अभाव से हम अपने अंगों को किस प्रकार विकृत कर डालते हैं, यह बात इस छोटी सी पुस्तक के पढ़ने से भली भाँति ज्ञात हो जायगी। मूल्य ।=)

१६—अनमोल रत्न—प्रस्तुत पुस्तक आपके हाथ में है। मूल्य १।)

१७—एकान्तवास—नवयुवकोपयोगी तेरह कहानियों का अनुपम संग्रह है। एक एक कहानी से युवकों को सदाचार, सत्यता, निर्भीकता त्याग आदि अनेक गुणों की शिक्षा मिलती है। कहीं पर अश्लीलता का नाम भी नहीं आया है। इसे स्त्री पुरुष, बच्चे, बुड्ढे सभी निःसंकोच भाव से पढ़

सकते हैं। इसकी उत्तमता पढ़ने ही से ज्ञात होगी। केवल ।।।)

१८—पृथ्वी के अन्वेषण की कथायें—यह हिन्दी में अपने ढंग की एक ही है। पृथ्वी के जो स्थान जगत से छिपे पड़े थे, उन स्थानों को ढूंढ़ निकाल वे जिन वीरों ने अपने जीवन की बाज़ी लगाई थी, दुर्गम बीहड़ जंगलों और भयानक हिम प्रदेशों की ख़ाक छान जिस साहस और वीरता का परिचय दिया, उनका रोमांचकारी वर्णन पढ़ते ही बनता है। कौन ऐसा मनुष्य इन कहानियों को पढ़ कर वीरता और उत्साह से न भर मूल्य १)

१६—फल उनके गुण तथा उपयोग—का विषय नाम ही से स्पष्ट है। यह निर्विवाद है कि फल सर्वोत्तम एवं निर्दोष है। जगत्-पूज्य महात्मा गाँधी प पर रहते हैं। हमारे ऋषि मुनि फल ही खाकर हज़ारों व आयु प्राप्त करते थे। परन्तु इस विषय पर कोई पुस्तक तक हिन्दी को कौन कहे भारत के किसी भी भाषा में थीं। लेखक ने वर्षों के अनुभव तथा अनुशीलन के बाद पुस्तक लिखी है। मन, शरीर तथा आत्मा को पवित्र ए बनाने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इसकी एक अवश्य रखनी चाहिये। दो सौ पृष्ठ की पुस्तक का मू० १)